

ठेले पर हिमालय

ठेले पर हिमालय

धर्मवीर भारती

भारती प्रेस प्रकाशन
इलाहाबाद

बसन्त-पंचमी १९५८

सजिल्द ५.५०
अजिल्द ४.५०

देवेन्द्र बाहरी
भारती प्रेस प्रकाशन
१०, दरभंगा रोड
इलाहाबाद

मुद्रक
ईस्टर्न प्रिंटर्ज
, थार्नहिल रोड,
इलाहाबाद

जिल्द
मुन्शी रज़ा एण्ड ब्रदर्स
हीवेट रोड,
इलाहाबाद

अगस्त्य के दो उजले कटावदार फूलों को—

जिनका दावा है कि वे हिमशिखरों
की कठिनतम यात्रा में भी
अन्त तक मेरा साथ
देंगे ही !

प्रस्तुत संकलन भारती की स्फुट गद्यकृतियों को एक साथ प्रस्तुत करता है। कहानी, उपन्यास, नाटक और समीक्षा की दिशा में उनकी स्वतन्त्र कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं किन्तु उनका बहुत सा ऐसा रोचक और महत्त्वपूर्ण गद्य लेखन है जो इनमें से किसी एक रूप में नहीं बंध पाता। यात्रा, विवरण, डायरी, पत्र, शब्दचित्र, साहित्यिक डायरी, संस्मरण, कैरीकेचर, व्यंग्य, श्रद्धांजलि और आत्मव्यंग्य की कुछ चुनी हुई कृतियाँ इस संकलन में सम्मिलित की गयी हैं। कुछ कृतियों के साथ लेखन-तिथि भी दे दी गयी है, किन्तु कुछ में नहीं दी जा सकी है। कुछ सामयिक घटनाओं को ही आधार बना कर लिखी गयी कृतियाँ हैं किन्तु उनकी रोचकता अपने में स्वतःसिद्ध है। कितने स्तरों पर, कितने मौलिक ढंग से लेखक अपने परिवेश के प्रति सजीव और ग्रहणशील रहा है इसका परिचय इसी प्रकार का संकलन दे सकता था। आशा है इस कृति से भारती के पाठक-वर्ग को उनके कला-व्यक्तित्व की विविध दिशाओं का परिचय भी मिल सकेगा।

—प्रकाशक

लेख सूची

यात्रा-विवरण

ठेले पर हिमालय—३; कूर्मांचल में कुछ दिन—१०;

डायरी

एक सपना और उसके बाद—१७; काले पत्थर की अँगूठी—२२; क्षणों की अथाह नीलिमा—२६; चाँदनी में कोकाबेली—३१; उचटी नींद—३३; केवल कौतुक वश—३५;

पत्र

फूल-पाती—३९; लाल कनेर के फूल और लालटेन वाली नाव—४५; डेड सी के तट पर—५४;

शब्द-चित्र

आधी रात : रेल की सीटी—६५; पार्क, चिड़ियाँ और सड़क की लालटेन—७३;

साहित्यिक डायरी

कैक्टस—८१; राज्य और रंगमंच—८५; होना और करना—९२; पुरानी प्रतिमाएँ : नये प्रतिमान—९७; अनास्था—१०६;

संस्मरण

उसने कहा था : एक संस्मरण—११५;

कैरीकेचर

राम जी की चींटी : राम जी का शेर—१२५;

व्यंग

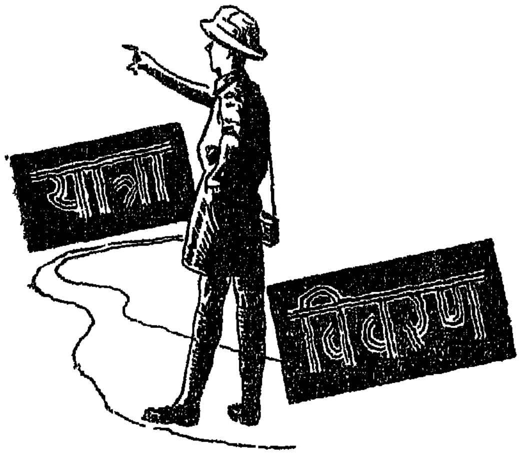
गुलिवर की तीसरी यात्रा—१३३; हिन्दी भाषा और बंगाले का जादू—१४९; डाकखाना मेघदूत : शहर दिल्ली—१५१; यू० एन० ओ० में हिन्दी पर मुक़दमा—१५८; नूतन काव्यशास्त्र—१६१;

श्रद्धांजलि

मैं चाँद के कलंक को प्रणाम करता हूँ—१७१;

आत्म-व्यंग

अपनी ही मौत पर—१७९;


यात्रा
विवरण

ठेले पर हिमालय

' ठेले पर हिमालय '—खासा दिलचस्प शीर्षक है न ! और यक़ीन कीजिये, इसे बिलकुल ढूंढ़ना नहीं पड़ा। बैठे-बिठाये मिल गया। अभी कल की बात है, एक पान की दूकान पर मैं अपने एक गुरुजन उपन्यासकार मित्र के साथ खड़ा था कि ठेले पर बर्फ़ की सिलें लादे हुए बर्फ़ वाला आया। ठंडे, चिकने चमकते बर्फ़ से भाप उड़ रही थी। मेरे मित्र का जन्मस्थान अल्मोड़ा है, वे क्षण भर उस बर्फ़ को देखते रहे, उठती हुई भाप में खोए रहे और खोए-खोए से ही बोले, "यही बर्फ़ तो हिमालय की शोभा है।" और तत्काल शीर्षक मेरे मन में कौंध गया, 'ठेले पर हिमालय।' पर आपको इस लिए बता रहा हूँ कि अगर आप नए कवि हों तो भाई, इसे ले जाएँ और इस शीर्षक पर दो-तीन सौ पंक्तियाँ बेडौल, बेतुकी लिख डालें—शीर्षक मौजूं है, और अगर नयी कविता से नाराज़ हों, सुललित गीतकार हों तो भी गुंजाइश है, इस बर्फ़ को डाँटें, "उतर आओ। ऊँचे शिखर पर बन्दरों की तरह क्यों चढ़े बैठे हो? ओ नए कवियो ! ठेले पर लदो। पान की दूकानों पर बिको।" *

ये तमाम बातें उसी समय मेरे मन में आईं और मैंने अपने गुरुजन मित्र को बताईं भी। वे हँसे भी, पर मुझे लगा कि वह बर्फ़ कहीं उनके मन को खरोंच

---

* देखिए बच्चन जी की कविता, 'चोटी की बर्फ़।'

गई हैं और ईमान की बात यह है कि जिसने ५० मील दूर से भी बादलों के बीच नीले आकाश में हिमालय की शिखर-रेखा को चाँद-तारों से बात करते देखा है, चाँदनी में उजली बर्फ़ को धुँधके हलके नीले जाल में दूधिया समुद्र की तरह मचलते और जगमगाते देखा है, उसके मन पर हिमालय की बर्फ़ एक ऐसी खरोंच छोड़ जाती है जो हर बार याद आने पर पिरा उठती है। मैं जानता हूँ, क्यों कि वह बर्फ़ मैंने भी देखी है।

सच तो यह है कि सिर्फ़ बर्फ़ को बहुत निकट से देख पाने के लिए ही हम लोग कौसानी गये थे। नैनीताल से रानीखेत और रानीखेत से मझकाली के भयानक मोड़ों को पार करते हुए कोसी। कोसी से एक सड़क अल्मोड़े चली जाती है, दूसरी कौसानी। कितना कष्टप्रद, कितना सूखा और कितना कुरूप है वह रास्ता। पानी का कहीं नाम-निशान नहीं, सूखे भूरे पहाड़, हरियाली का नाम नहीं। ढालों को काट कर बनाये हुये टेढ़े-मेढ़े खेत जो थोड़े से हों तो शायद अच्छे भी लगें पर उनका एकरस सिलसिला बिलकुल शैतान की आँत मालूम पड़ता है। फिर मझकाली के टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर अल्मोड़े का एक नौसिखिया और लापरवाह ड्राइवर जिसने बस के तमाम मुसाफिरों की ऐसी हालत कर दी कि जब हम कोसी पहुँचे तो सभी मुसाफिरों के चेहरे पीले पड़ चुके थे। कौसानी जाने वाले सिर्फ़ हम दो थे, वहीं उतर गये। बस अल्मोड़े चली गई। सामने के एक टीन के शेड में काठ की बेंच पर बैठकर हम वक्त काटते रहे। तबियत सुस्त थी और मौसम में उमस थी। दो घंटे बाद दूसरी लारी आ कर रुकी और जब उसमें से प्रसन्न-वदन शुक्ल जी को उतरते देखा तो हम लोगों की जान में जान आई। शुक्ल जी जैसा सफ़र का साथी पिछले जन्म के पुण्यों से ही मिलता है। उन्हीं ने हमें कौसानी आने का उत्साह दिलाया था और खुद तो कभी उनके चेहरे पर थकान या सुस्ती दीखी ही नहीं, पर उन्हें देखते ही हमारी भी सारी थकान काफ़ूर हो जाया करती थी।

पर शुक्ल जी के साथ यह नई मूर्ति कौन है? लम्बा-दुबला शरीर, पतला साँवला चेहरा, एमिल जोला-सी दाढ़ी, ढीला-ढाला पतलून, कन्धे पर पड़ी हुई ऊनी जर्किन, बगल में लटकता हुआ जाने थर्मस या कैमरा या बाइनाकुलर। और खासी अटपटी चाल थी बाबू साहब की। यह पतला-दुबला मुझी जैसा सींकिया शरीर और उस पर आपका झूमते हुये आना. . .मेरे चेहरे पर निरन्तर घनी होती हुई उत्सुकता को ताड़कर शुक्ल जी ने कहा—"हमारे शहर के मशहूर चित्रकार हैं सेन, अकादमी से इनकी कृतियों पर पुरस्कार मिला है। उसी रुपये

से घूमकर छुट्टियां बिता रहे है।" थोड़ी ही देर में हम लोगों के साथ सेन घुलमिल गया, कितना मीठा था हृदय से वह! वैसे उसके करतब आगे चलकर देखने में आये।

कोसी से बस चली तो रास्ते का सारा दृश्य बदल गया। सुडौल पत्थरों पर कल-कल करती हुई कोसी, किनारे के छोटे-छोटे सुन्दर गाँव और हरे मखमली खेत। कितनी सुन्दर है सोमेश्वर की घाटी। हरी-भरी। एक के बाद एक बस-स्टेशन पड़ते थे, छोटे-छोटे पहाड़ी डाकखाने, चाय की दूकानें और कभी-कभी कोसी या उसमें गिरने वाले नदी-नालों पर बने हुये पुल। कहीं-कही सड़क निर्जन चीड़ के जंगलों से गुजरती थी। टेढ़ी-मेढ़ी, ऊपर-नीचे रेंगती हुई कंकड़ीली पीठ वाले अजगर-सी सड़क पर धीरे-धीरे बस चली जा रही थी। रास्ता सुहावना था और उस थकावट के बाद उसका सुहावनापन हम को और भी तन्द्रालस बना रहा था। पर ज्यों-ज्यों बस आगे ब़ रही थी, त्यों-त्यों हमारे मन में एक अजीब-सी निराशा छाती जा रही थी; अब तो हम लोग कौसानी के नजदीक है, कोसी से १८ मील चले आये, कौसानी सिर्फ छः मील है; पर कहाँ गया वह अतुलित सौंदर्य, वह जादू जो कौसानी के बारे में सुना जाता था। आते समय मेरे एक सहयोगी ने कहा था कि काश्मीर के मुकाबले में उन्हें कौसानी ने अधिक मोहा है, गाँधी जी ने यहीं अनासक्तियोग लिखा था और कहा था स्विटजरलैण्ड का आभास कौसानी में ही होता है। ये नदी, घाटी, खेत, गाँव, सुन्दर हैं किन्तु इतनी प्रशंसा के योग्य तो नहीं ही हैं। हम कभी-कभी अपना संशय शुक्ल जी से व्यक्त भी करने लगे और ज्यों-ज्यों कौसानी नजदीक आती गयी त्यों-त्यों अधैर्य, फिर असंतोष और अन्त में तो क्षोभ हमारे चेहरे पर झलक आया। शुक्ल जी की क्या प्रतिक्रिया थी हमारी इन भावनाओं पर, यह स्पष्ट नहीं हो पाया क्योंकि वे बिलकुल चुप थे। सहसा बस ने एक बहुत लम्बा मोड़ लिया और ढाल पर चढ़ने लगी।

सोमेश्वर की घाटी के उत्तर में जो ऊँची पर्वतमाला है, उसी पर, बिलकुल शिखर पर कौसानी बसा हुआ है। कौसानी से दूसरी ओर फिर ढाल शुरू हो जाती है। कौसानी के अड्डे पर जाकर बस रुकी। छोटा-सा, बिलकुल उजड़ा-सा गाँव और बर्फ का तो कहीं नाम-निशान नहीं। बिलकुल ठगे गये हम लोग। कितना खिन्न था मैं। अनखाते हुये बस से उतरा कि जहाँ था वहीं पत्थर की मूर्ति-सा स्तब्ध खड़ा रह गया। कितना अपार सौंदर्य बिखरा था सामने की घाटी में। इस कौसानी की पर्वतमाला ने अपने अंचल में यह जो कत्यूर

की रंग-बिरंगी घाटी छिपा रखी है, इसमें किन्नर और यक्ष ही तो वास करते होंगे। पचासों मील चौड़ी यह घाटी, हरे मखमली क़ालीनों जैसे खेत, सुन्दर गेरू की शिलाएँ काटकर बने हुये लाल-लाल रास्ते, जिनके किनारे सफ़ेद-सफ़ेद पत्थरों की कतार और इधर-उधर से आकर आपस में उलझ जाने वाली बेले की लड़ियों-सी नदियां। मन में बेसाख़्ता यही आया कि इन बेलों की लड़ियों को उठाकर कलाई में लपेट लूँ, आँखों से लगा लूँ। अकस्मात् हम एक दूसरे लोक में चले आये थे। इतना सुकुमार, इतना सुन्दर, इतना सजा हुआ और इतना निष्कलंक...कि लगा इस धरती पर तो जूते उतार कर, पाँव पोंछकर आगे बढ़ना चाहिये। धीरे-धीरे मेरी निगाहों ने इस घाटी को पार किया और जहाँ ये हरे खेत और नदियाँ और वन, क्षितिज के धुंधलेपन में, नीले कोहरे में घुल जाते थे, वहाँ पर कुछ छोटे पर्वतों का आभास अनुभव किया, उसके बाद बादल थे और फिर कुछ नहीं। कुछ देर उन बादलों में निगाह भटकती रही कि अकस्मात् फिर एक हल्का-सा विस्मय का धक्का मन को लगा। इन धीरे-धीरे खिसकते हुये बादलों में यह कौन चीज़ है जो अटल है। यह छोटा-सा बादल के टुकड़े सा,—और कैसा अजब रंग है इसका, न सफ़ेद, न रुपहला, न हल्का नीला...पर तीनों का आभास देता हुआ। यह है क्या? बर्फ़ तो नहीं है। हाँ जी! बर्फ़ नहीं है तो क्या है? और अकस्मात् बिजली सा यह विचार मन में कौंधा कि इसी कत्यूर घाटी के पार वह नगाधिराज, पर्वत-सम्राट् हिमालय है, इन बादलों ने उसे ढाँक रखा है वैसे वह क्या सामने है; उसका एक कोई छोटा-सा बाल-स्वभाव वाला शिखर बादलों की खिड़की से झाँक रहा है। मैं हर्षातिरेक से चीख उठा, "बरफ़! वह देखो!" शुक्ल जी, सेन, सभी ने देखा, पर अकस्मात् वह फिर लुप्त हो गया। लगा, उसे बाल-शिखर जान किसी ने अन्दर खींच लिया। खिड़की से झाँक रहा है, कहीं गिर न पड़े!

पर उस एक क्षण के हिम-दर्शन ने हम में जाने क्या भर दिया था। सारी खिन्नता, निराशा, थकावट—सब छू-मन्तर हो गई। हम सब आकुल हो उठे। अभी ये बादल छँट जायेंगे और फिर हिमालय हमारे सामने खड़ा होगा—निरावृत्त...असीम सौंदर्यराशि हमारे सामने अभी-अभी अपना घूँघट धीरे से खसका देगी और...और तब? और तब? सचमुच मेरा दिल बुरी तरह धड़क रहा था। शुक्ल जी शान्त थे, केवल मेरी ओर देखकर कभी-कभी मुस्कुरा देते थे, जिसका अभिप्राय था, 'इतने अधीर थे, कौसानी आई भी नहीं और मुँह लटका लिया। अब समझे यहाँ का जादू!' डाक-बँगले के

खानसामे ने बताया कि "आप लोग बड़े खुशक़िस्मत हैं साहब! १४ टूरिस्ट आकर हफ़्ते भर पड़े रहे, बर्फ़ नहीं दीखी। आज तो आपके आते ही आसार खुलने के हो रहे हैं।"

सामान रख दिया गया। पर मैं, मेरी पत्नी, सेन, शुक्ल जी सभी बिना चाय पिये सामने के बरामदे में बैठे रहे, और एकटक सामने देखते रहे। बादल धीरे-धीरे नीचे उतर रहे थे और एक-एक कर नये-नये शिखरों की हिमरेखायें अनावृत हो रही थी। और फिर सब खुल गया। बाँई ओर से शुरू होकर दाँई ओर गहरे शून्य में धँसती जाती हुई हिम-शिखरों की ऊबड़-खाबड़, रहस्यमयी, रोमाँचक शृंखला। हमारे मन में उस समय क्या भावनाएं उठ रही थीं यह अगर बता पाता तो यह खरोंच, यह पीर ही क्यों रह गई होती। सिर्फ़ एक धुंधला-सा सम्वेदन इसका अवश्य था कि जैसे बर्फ़ की सिल के सामने खड़े होने पर मुँह पर ठंडी-ठंडी भाप लगती है, वैसे ही हिमालय की शीतलता माथे को छू रही है और सारे संघर्ष, सारे अन्तर्द्वन्द्व, सारे ताप जैसे नष्ट हो रहे हैं। क्यों पुराने साधकों ने दैहिक, दैविक और भौतिक कष्टों को ताप कहा था और उसे नष्ट करने के लिए वे क्यों हिमालय जाते थे यह पहली बार मेरी समझ में आ रहा था। और अकस्मात् एक दूसरा तथ्य मेरे मन के क्षितिज पर उदित हुआ। कितनी, कितनी पुरानी है यह हिमराशि! जाने किस आदिम काल से यह शाश्वत अविनाशी हिम इन शिखरों पर जमा हुआ है। कुछ विदेशियों ने इसीलिए हिमालय की इस बर्फ़ को कहा है—चिरंतन हिम (The Eternal Snows)। सूरज ढल रहा था। और सुदूर शिखरों पर दर्रे, ग्लेशियर, ताल, घाटियों का क्षीण आभास मिलने लगा था। आतंकित मन से मैंने यह सोचा था कि पता नहीं इन पर कभी मनुष्य का चरण पड़ा भी है या नहीं, या अनन्तकाल से इन सूने बर्फ़-ढँके दर्रों में सिर्फ़ बर्फ़ के अन्धड़ हू-हू करते हुये बहते रहे हैं।

सूरज डूबने लगा और धीरे-धीरे ग्लेशियरों में पिघली केसर बहने लगी। बरफ़ कमल के लाल फूलों में बदलने लगी, घाटियाँ गहरी नीली हो गईं। अन्धेरा होने लगा तो हम उठे और मुँह हाथ धोने और चाय पीने में लगे। पर सब चुपचाप थे, गुमसुम जैसे सब का कुछ छिन गया हो, या शायद सबको कुछ ऐसा मिल गया हो जिसे अन्दर ही अन्दर सहेजने में सब आत्मलीन हो अपने में डूब गये हों।

थोड़ी देर में चाँद निकला और हम फिर बाहर निकले. . .इस बार सब शान्त था। जैसे हिम सो रहा हो। मै थोड़ा अलग आरामकुर्सी खींच कर बैठ गया। यह मेरा मन इतना कल्पनाहीन क्यों हो गया है? इसी हिमालय को देख कर किसने-किसने क्या-क्या नहीं लिखा और यह मेरा मन है कि एक कविता तो दूर, एक पंक्ति, हाय एक शब्द भी तो नहीं जागता।. . .पर कुछ नहीं, यह सब कितना छोटा लग रहा है इस हिम-सम्राट के समक्ष। पर धीरे-धीरे लगा कि मन के अन्दर भी बादल थे जो छँट रहे हैं। कुछ ऐसा उभर रहा है जो इन शिखरों की ही प्रकृति का है. . .कुछ ऐसा जो इसी ऊँचाई पर उठने की चेष्टा कर रहा है ताकि इनसे इन्हीं के स्तर पर मिल सके। लगा, यह हिमालय बड़े भाई की तरह ऊपर चढ़ गया है, और मुझे—छोटे भाई को—नीचे खड़ा हुआ, कुंठित और लज्जित देख कर थोड़ा उत्साहित भी कर रहा है, स्नेहभरी चुनौती भी दे रहा है—"हिम्मत है? ऊँचे उठोगे?"

और सहसा सन्नाटा तोड़ कर सेन रवीन्द्र की कोई पंक्ति गा उठा और जैसे तन्द्रा टूट गई। और हम सक्रिय हो उठे—अदम्य शक्ति, उल्लास, आनन्द जैसे हम में झलक पड़ रहा था। सबसे अधिक खुश था सेन, बच्चों की तरह चंचल, चिड़ियों की तरह चहकता हुआ। बोला, "भाई साहब, हम तो वण्डरस्ट्रक है कि यह भगवान का क्या-क्या करतूत इस हिमालय में होता है।" इस पर हमारी हँसी मुश्किल से ठंडी हो पाई थी कि अकस्मात् वह शीर्षासन करने लगा। पूछा गया तो बोला, "हम हर पर्सपेक्टिव से हिमालय देखूंगा।" बाद में मालूम हुआ कि वह बम्बई की अत्याधुनिक चित्रशैली से थोड़ा नाराज़ है और कहने लगा, "ओ सब जीनियस लोग शीर का बल खड़ा होकर दुनिया को देखता है। इसी से मैं भी शीर का बल हिमालय देखता हूँ।"

दूसरे दिन घाटी में उतर कर १२ मील चल कर हम बैजनाथ पहुँचे जहाँ गोमती बहती है। गोमती की उज्जवल जलराशि में हिमालय की बरफ़ीली चोटियों की छाया तैर रही थी। पता नहीं, उन शिखरों पर कब पहुँचूं, कैसे पहुँचूं, पर उस जल में तैरते हुये हिमालय से जी भर कर भेंटा, उसमें डूबा रहा।

आज भी उसकी याद आती है तो मन पिरा उठता है। कल ठेले के बर्फ़ को देख कर वे मेरे मित्र उपन्यासकार जिस तरह स्मृतियों में डूब गये उस

दर्द को समझता हूँ और जब ठेले पर हिमालय की बात कहकर हँसता हूँ तो वह उस दर्द को भुलाने का ही बहाना है। वे बर्फ की ऊँचाइयाँ बार-बार बुलाती हैं, और हम हैं कि चौराहों पर खड़े, ठेले पर लद कर निकलने वाली बर्फ को ही देख कर मन बहला लेते हैं। किसी ऐसे ही क्षण में ऐसे ही ठेलों पर लदे हिमालयों से घिर कर ही तो तुलसी ने नहीं कहा था...'कबहुँक हो यहि रहनि रहौंगो...मैं क्या कभी ऐसे भी रह सकूँगा वास्तविक हिमशिखरों की ऊँचाइयों पर ?' और तब मन में आता है कि फिर हिमालय को किसी के हाथ सन्देसा भेज दूँ..."नहीं बन्धु...आऊँगा। मैं फिर लौट-लौट कर वहीं आऊँगा। उन्हीं ऊँचाइयों पर तो मेरा आवास है। वहीं मन रमता है...मैं करूँ तो क्या करूँ ?"

●

कूर्मांचल में कुछ दिन

हिमालय की बर्फ़ीली चोटियों की छांव में फूल, फल, झरने और बंगलों वाले कूर्मांचल का नाम लेते ही मेरी आँखों के आगे रामगढ़ की एक शाम धुँधली तस्वीर की तरह खिंच जाती है। एक बहुत ऊँची, वनाच्छादित पर्वत-शृंखला के इस बाजू में मीलों लम्बा एक फलों का बग़ीचा है। सुनहले, हरे, पीले, सिन्दूरी और गुलाबी सेबों से लदे हुए पेड़ों की क़तारें पार कर हम उस बंगले में जा पहुँचे हैं जिसमें महाकवि रवीन्द्र ठाकुर ने अपने कूर्मांचल प्रवास के कुछ दिन बिताए थे। बस की सड़क सैकड़ों फ़ीट नीचे मटियाले साँप की तरह घाटियों और जंगलों में रेंगती सरकती चली जा रही है, सड़क के भी सैकड़ों फ़ीट नीचे तल्ली रामगढ़ के घरों की टीनवाली छतें दीख रही हैं और उनमें चलते फिरते लोग चींटियों की तरह लग रहे हैं, उधर समरफोर्ड के पहाड़ पर एक सफ़ेद बादल उड़ता हुआ आकर टिक गया है, और धीरे-धीरे धनुषाकार होता हुआ जा रहा है। बँगले के सामने के लान में बेंत की खूबसूरत हरी कुर्सियाँ डाल दी गई हैं और बग़ीचे के मैनेजर ने चाय बनवा कर मंगायी है।

८००० फ़ीट की ऊँचाई पर चाय की उस मेज़ पर हर तरह के लोग। मैनेजर. . .जो बता रहा कि इन पहाड़ियों में कौन से फल और उग सकते हैं? कौन से उद्योग चल सकते हैं? इससे देश को क्या आय हो सकती है? मेरे

एक मित्र. . .जो बता रहे हैं कि वे एक दिन में ३२ मील चल कर मुक्तेश्वर गए और लौट आए, राह में भूख लगने पर वे दर्जनों पराठे खा गए क्योंकि पहाड़ों का घी बहुत शुद्ध होता है। मेरी पत्नी. . .जिसे दुःख है कि सूरज डूब गया अब उसका केमरा बेकार है, और मन में सोच रही है कि काश इन पहाड़ों पर सेब की जगह हरी मिर्चों के बग़ीचे होते। आर्जन्टाइना का एक साधु. . .जो आत्मा की अमरता, हिमालय का आध्यात्मिक प्रभाव, अनेकता में एकता और वेदान्त की माया पर कुछ चिरपरिचित बातें कर रहा है। इन भांति-भाँति के लोगों के बीच में. . .चुप. कुछ-कुछ सहमा आ सा. .कुछ मंत्रमुग्ध. .बार-बार उधर देखता हुआ जिधर हिमालय की मुख्य हिमवती चोटियाँ बादल और धुंधलके में छिपी हुई हैं, जो सिर्फ़ एक शाम को अकस्मात् चमक उठी थीं। बादलों का अवगुंठन हटाकर रामगढ़ के उत्तर में बर्फ़ के फूलों के धनुष की तरह अर्द्ध-वृत्ताकार फैल गयी थीं। उस दिन से बादलों में जो छिपीं तो फिर दीखी नहीं. . . पर मन में जाने कैसी प्यास भर गई। वहाँ उन सेबों के बीच में बैठा हुआ भी, मैं वहाँ नहीं था, उन्हीं अदृश्य घाटियों में भटक रहा था, उन्हीं खोई हुई शृंखलाओं की ओर चला जा रहा था. . .बिल्कुल अकेला जाने किस जादू से सब कुछ जैसे एक प्रतीक में बदल गया था। जिन्दगी के गर्दगुबार और धुँधलके को चीर कर वह कौन सी ऊँचाइयाँ हैं जो अकस्मात् चमक कर फिर छिप जाती हैं और मेरा मन अकुला उठता है उनकी ओर चल पड़ता है एक निरन्तर अनथक यात्रा...चरैवैति चरैवैति. .चलते चलो, चलते चलो। उस दिन, उस दिन हिमालय मुझे अपना चिर-परिचित लगा था जिसे म जाने कब से ढूंढ रहा था। जो यहाँ भूमि पर उदित होने के पूर्व जैसे मेरे मन की गहराइयों में, अन्तराल में सोया पड़ा था और जब से वे हिमालय की चोटियाँ यहाँ उग आईं तब से मन का वह हिस्सा रिक्त पड़ा है, खाली पड़ा है और तभी से वह हिमालय को खोज रहा है कि उसकी रिक्तता, उसका खालीपन फिर भरा-भरा सा हो जाय।

चाय के प्याले खटकते हैं और उधर कालाखान के जंगलों में एक चिड़िया निरन्तर रट लगाने लगती है. . जुहो ! जुहो ! जुहो ! इस दर्द भरी पुकार से हम सब परिचित हैं। ताकुला की गहरी घाटियों में उगे बाँझ के वनों में, कौसानी के झरनों पर, कत्यूर में गोमती के किनारे यह पुकार हर यात्री को सुनाई पड़ती है। यह चिड़िया बराबर बोलती है जुहो ! जुहो ! जुहो ! हमारी उत्सुकता देख कर मैनेजर ने बताया कि इस पक्षी के बारे में एक मार्मिक लोक-कथा कूर्माचल में प्रचलित है। कहते हैं कि किसी जमाने में एक अत्यन्त रूपवती पहाड़ी कन्या थी जो वर्ड्स्वर्थ की लूसी की तरह झरनों के संगीत, वृक्षों के

मर्मर और घाटियों की प्रतिध्वनियों पर पली थी। लेकिन उसका पिता ग़रीब था और लाचारी में उसने अपनी कन्या मैदानों में ब्याह दी, वे मैदान जहाँ सूरज आग की तरह तपता है, जहाँ झरनों और जंगलों का नामनिशान नहीं, जहाँ भूखे अजगरों की तरह धधकती लूएँ आदमी को साबित निगल जाती हैं। प्रियतम के स्नेह की छाया में वर्षा और सर्दी तो किसी तरह कट गए पर सूर्य के दक्षिणायन होते ही वह अकुला उठी। उसने नैहर जाने की प्रार्थना की। पर सास और ननद ने इन्कार कर दिया। वह धूप में तपे गुलाब की तरह मुरझाने लगी। शृंगार छुटा, वेश-विन्यास छूटा, खाना-पीना छूट गया। अन्त में सास ने कहा, अच्छा तुम्हें कल भेज देंगे। सुबह हुई. .उसने आकुलता से पूछा. .'जुहो?' (जाऊँ)। सास ने कहा . .'भोल जाला (कल सुबह जाना)।' वह और भी मुरझा गयी। एक दिन किसी तरह कटा। दूसरे दिन उसने पूछा. .'जुहो ?' सास फिर बोली. .'भोल जाला।' रोज वह अपना सामान संवारती। प्रिय से विदा लेती और पूछती 'जुहो ?' रोज सास नाराज होकर मुँह फेर कर कहती. .'भोल-जाला।' एक दिन जेठ का दसतपा लग गया, धरती धूप से चटख गई, वृक्षों पर से चिड़ियां लू खाकर गिरने लगीं। वधू ने फिर हाँफते हुए सूखे गले से अन्तिम बार सास से पूछा, 'जुहो ?' सास ने पंखे की डंडी से पीठ खुजाते हुए कहा. . . 'भोल जाला।' फिर वह कुछ नहीं बोली। शाम को एक वृक्ष के नीचे वह अचेत पड़ी मिली, प्राणहीना। गर्मी से काली पड़ गयी थी। वृक्ष की डाली पर एक चिड़िया बैठी थी जो गर्दन हिला कर बोली 'जुहो ?' और उत्तर की प्रतीक्षा न कर नन्हें-नन्हें पंख फैलाकर कूर्मांचल की ओर उड़ गयी। मैनेजर ने चाय का प्याला रखते हुए कहा, 'तब से आज तक कूर्मांचल के जंगलों में एक चिड़िया दर्द भरे स्वर में बार बार पूछती है जुहो ? जुहो ? जुहो ? और फिर एक कर्कश पक्षी-स्वर सुन पड़ता है, भोल जाला। और फिर वह चिड़िया चुप हो जाती है। एक बेबसी की चुप।'

हम लोगों ने 'भोल जाला' का स्वर नहीं सुना, पर कुछ देर की निरन्तर रट के बाद वह चिड़िया अपने आप चुप हो गयी। उसका दर्द हमें बहुत गहरे छू गया है। ऐसे घाव तो हम सबों के मन में हैं न, पता नहीं किन हरियाली घाटियों के वासी हमारे प्राण इन अपरिचित निर्मम परिस्थितियों की सीमा में बँधे, परदेश में भटक से रहे हैं और उसी सुदूर के प्यासे हैं, वह सुदूर हमें बार बार बुलाता है, और हम पूछते—हैं जुहो ? और हमारी विवशताएँ, हमारे बन्धन, हमारी सीमाएँ कर्कश स्वर में कहती हैं 'भोल जाला।' और हम चुप हो जाते हैं। पर वह प्यास तो नहीं चुप होती। वह तो रटती जाती है जुहो ! जुहो !

हम रवीन्द्र ठाकुर के बँगले के सामने बैठे थे और मैं सोच रहा था/कहीं ऐसे ही किसी क्षण में तो रवीन्द्र ने मर्माहत होकर नहीं कहा था :

आमि चंचल हे
आमि सुदूरेर पियासी!
दिन चले जाय, आमि आनमने
तारि आशा चेये थाकि वातायने

और इसी प्यास से व्याकुल होकर कूर्मांचल के सुकुमार कवि पंत ने कहा था—

क्या मेरी आत्मा का चिरधन ।
मैं रहता नित उन्मन उन्मन ।

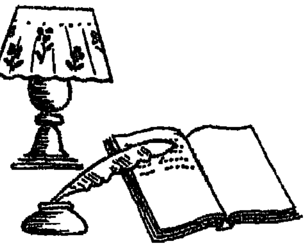
क्या उसकी आत्मा का चिरधन,
स्थिर अपलक नयनों का चिन्तन,
क्या खोज रहा वह अपनापन ?

कालिदास से लेकर सुमित्रानन्दन पंत तक हिमालय भारतीय कवि की आत्मा में बराबर यह प्यास जगाता रहा है। कूर्मान्चल हिमालय का द्वार है। कूर्मांचल के पहाड़ों से दीखने वाला हिमालय पता नहीं कैसे अपने पास खींचने लगता है। इस अजीब से आकर्षण को सबसे पहले मैंने कौसानी में अनुभव किया था। मझकाली के खतरनाक मोड़ और अल्मोड़े की सूखी नीरस घाटी में होते हुए, कोसी पार कर सोमेश्वर की हरी उपजाऊ घाटियों होकर जब हम कौसानी पहुँचे तो लगभग निराश से थे। महात्मा गाँधी ने अपने जीवन के कुछ अत्यन्त रमणीय दिन यहाँ बिताये थे, और उन्होंने इस स्थान की तुलना स्विटजरलैंड से की थी। हम लोगों को चारों ओर कोसी की घाटी दीख रही थी पर उसमें क्या ऐसी विशेषता ? थोड़ा और आगे बढ़े। चढ़ाई शुरू हुई। बस का अड्डा आया और हम उतर पड़े। वह सामने सहसा क्या दीख पड़ा। बादल धीरे-धीरे हट रहे थे और त्रिशूल का गगनभेदी शिखर उदित हो रहा था। तीसरे पहर के सूरज की सुनहरी धूप उन शृंखलाओं के शिखरों और गह्वरों पर अजब रहस्यमय ढंग से बिखर रही थी। अभी केवल एक शिखर दीख रहा था, लगभग ३०, ४० मील दूर होगा, पर लग रहा था जैसे वह सामने खड़ा है, बिल्कुल हमारे माथे पर झुका हुआ, कभी कभी तो लगता था

कि अनन्त काल से उस शिखर पर जमे हुये बर्फ की ठंडी-ठंडी भाप हमारे माथे को आशीर्वाद की तरह स्पर्श कर रही है। नयन, मन, प्राण बंध जाने की बात सुनी थी पर अनुभव उसी दिन हुआ। लगा जैसे हमारी चेतना का कोई अंश ऐसा जरूर है जो धरती के कठोर यथार्थ से हमें ऊपर की ओर उठा रहा है वहाँ जहाँ अनन्तकाल से शुभ्र श्वेत हिम जमा हुआ है। उन्हीं शिखरों को शंकराचार्य ने देखा था, इन्हीं में कालिदास भटके थे, इन्हीं में विवेकानन्द ने आत्म-साक्षात्कार किया था। क्या यह सब केवल भ्रम था ? फिर मैं इस समय यह क्या महसूस कर रहा हूँ। एक अलौकिक शान्ति, और एक दूर से आती हुई पुकार जो इन हिमशिखरों के रहस्यमय वातावरण में मुझे बुला रही है। उस एक क्षण में मुझे जैसे असीम और अनन्त में आस्था होने लगी। लगा जैसे मेरे अस्तित्व का चरम साफल्य हिमालय की ऊँचाइयों से जरूर मेल खाता है। मुझे लगा जैसे मेरा वास्तविक व्यक्तित्व वही है, यहाँ तो जैसे मैं छद्मवेश धारण कर आपद्धर्म का जीवन बिता रहा हूँ। एक दिन यह सब नीचे छोड़कर उन्हीं ऊँचे शिखरों पर जाना है। यह जो मैं आजकल जी रहा हूँ, यह तो उस यात्रा की तैयारी मात्र है। कब वह बेला आयेगी जब म पूछूँगा जुहो, जाऊँ ? और फिर उस समय कोई भी मेरी यात्रा कल के लिये स्थगित न कर सकेगा, मैं अपने नन्हे पंख खोल कर आकाश नापता हुआ इन्हीं ऊँचाइयों की ओर उड़ूँगा।

कूर्मांचल में बीते हुये बाक़ी दिनों में भी यही प्यास अपने को दोहराती रही। कत्यूर की घाटी में श्वेत पत्थरों पर बहती हुई गोमती में जब मैं जी भर कर नहाया, डुमलौट के रास्ते में चीड़ और रोडोडेन्ड्रान के घने जंगलों में जब मैं भटकता फिरा, घनी अँधेरी रातों में नैनीताल की सुन्दर झील में हरी नीली बत्तियों के प्रतिबिम्बों पर से जब अपनी नाव खेता फिरा, ताकुला में घने बादलों से घिर कर जब नन्हीं फुहारों से भीगता रहा, तब बराबर महसूस करता रहा कि ये वे कुछ सौभाग्यशाली दिन हैं, जब हम अपने जीवन को गहरे स्तरों पर जीते हैं, जब हम जीवन की परिधि असीम मालूम पड़ती है और हमें अपने अस्तित्व के नये और गहरे अर्थ मिलते हैं। किसी भी कलाकार के लिये इस प्यास को भूल जाना घातक होता है। हिमालय ने वह प्यास फिर कुरेद दी, इसके लिए मैंने चरम आभार के उस क्षण में मन ही मन उसे प्रणाम किया था, और अब भी जब उसका ध्यान आता है, मेरा सर कृतज्ञता से नत हो जाता है।

●



डायरी

एक सपना और उसके बाद

२२ अगस्त १६५०

अभी सावन आधा भी नही बीता, लेकिन कैसा सुहावना मौसम है। बादल छंट गये है और सुबहों मे वह इठलाती हुई खुनकी है कि हरसिंगार के फूल याद आने लगते है। कौन जाने कहीं-कही हरसिंगार फूलने भी लगे हों।

आज-कल सुबह उठता हूँ तो एक उल्लास अंगों पर छाया रहता है। नसों में सुनहरा खून नाचता रहता है, साँसों मे फूल उड़ते हैं।

बहुत दिनों से डायरी नहीं लिख रहा हूँ अतः वह लिख नहीं पाया---पिछले शनिवार को एक बड़ा विचित्र सपना देखा मैने, और सोकर उठा तो मन ऐसा उड़ा-उड़ा फिर रहा था कि जैसे मै गुलाबों की घाटियों में चल रहा होऊं।

मैंने देखा कि हमारी उम्र को फिर किसी ने बचपन की गोद में बिठा दिया है। एक परिचित सी गली है, जिसमें एक पुराने मकान के छज्जे पर दो-चार गमलों में हल्की इकलाई की साड़ी जैसे सफ़ेद फूल खिले है—लम्बे फूल—बहुत कुछ धतूरे के फूलों जैसे। मैं चलते-चलते उन्हे देख कर रुक जाता हूँ, मेरे अर्द्ध-सुप्त मन को कुछ ऐसा आभास होता है कि ये फल किसी बहुत ही रहस्यमयी

कथा से सम्बद्ध हैं, ये जादू के फूल हैं, इनमें नन्हों-नन्हीं शबनम की परियाँ रहती हैं,—या ये ऐतिहासिक महत्त्व के फूल हैं—इनके पीछे शाहज़ादों में तलवारें चली होंगी, संगमरमर की सीढ़ियों पर ताज़ा सुर्ख़ ख़ून बह गया होगा और अन्त में खम्भों के पीछे सहमी हुई किसी शाहज़ादी ने इन फूलों को तोड़ कर, माथे से लगा कर उन ख़ून के धब्बों पर बिखेर दिया होगा और मुर्शिदाबादी सिल्क के दुपट्टे से आँखें पोंछती हुई, हाथीदाँत के पलंग पर लेट कर बिलख-बिलख कर रोने लगी होगी !......मैं स्वप्न-डूबी निगाहों से उन फूलों को देख रहा था और तुम प्यार-डूबी निगाहों से मुझे !

"फूल लोगे क्या ?" तुमने निगाहों में थोड़ी शरारत, थोड़ी सान्त्वना भर कर कहा !

"नहीं !" मैंने कहा।

"मन तो है तुम्हारा ! अभी बचपना गया नहीं ? ख़ैर फूल आ तो सकते हैं, चुराना पड़ेगा !"

इतने में रिवाल्विंग स्टेज की तरह, स्वप्न का सारा दृश्य घूम जाता है। सामने एक खिड़की है, जिसमें एक पलंग है जिस पर बंगालिन बुढ़िया लेटी हुई है। वह शुद्ध हिन्दी बोलती है, लेकिन पता नहीं क्यों मुझे लगता है यह बंगालिन है। तुम मेरे कान में धीमे से कहती हो—'तुम इससे बातें करते रहो—मैं तब तक फूल उड़ा दूँ !'

मैं उससे रवीन्द्र की एक कविता की बातें करता हूँ जो मुझे अत्यन्त प्रिय है—"आमि चंचल हे ! आमि सुदूरेर पियासी !" वह मुँह बिचका कर कहती है—"मैंने रवीन्द्र को गोद खिलाया है, रवीन्द्र नहाने से डरते थे !"

इतने में तुम आती हो और धीरे से फूल मुझे दे देती हो। तुम वहीं छूट जाती हो और मैं उन्हें लेकर भागता हूँ। वे जादू के फूल मेरे हाथ में हैं। भागते समय मेरे मन में बड़ा उल्लास है, जैसे बचपन में अमरूद के बाग से अमरूद चुरा कर भागता था, उस भागने में डर नहीं रहता था—बड़ी ख़ुशी होती थी।

घर पर आकर सहसा ख़्याल आता है कि तुम तो वहीं छूट गयी हो। तुम पर कोई आपत्ति न आ गई हो। लेकिन मैं आराम से नहा धोकर, कपड़े बदल कर, चाय पीकर निकलता हूँ—और घर से निकलते ही जी घबरा उठता है कि "तुम्हारा क्या हुआ ? तुम सही सलामत घर पहुँची या नहीं ?"

मैं वहाँ पहुँचता हूँ और धीरे से झाँकता हूँ। घर के सामने काफ़ी भीड़ लगी है। इतने में कोई परिचित मुझे आकर हँसता हुआ बताता है कि तुम सबकी आँखों में धूल झोंक कर रहे-सहे जादू के फूल भी चुरा ले गई।

▲

पता नहीं सपने का कोई अर्थ है या नहीं—पर सपने में बड़ा उल्लास है, सुन्दर भी है, रहस्यमय भी है। यही सपने का अर्थ है।

आज नहा धोकर पहले डट कर नाश्ता किया तब पाठ करने के लिए भागवत खोली। सपना पता नहीं क्यों दिमाग़ पर नाच रहा था। सोचा कौन-सा अध्याय पढ़ूँ ? रासवर्णन; खोला और रख दिया, कुब्जा-प्रसंग—तबियत नहीं लगी। उद्धव-सम्वाद बड़ा नीरस मालूम पड़ा—और भगवान क्षमा करें, उस दिन मेरा मन उस अध्याय में बहुत रमा जिसमें भगवान की मौत हुई है। (पता नहीं उन जादू के, मौत के फूलों का यह परवर्ती प्रभाव रहा हो।)

▲

यह अध्याय भी बड़ा दर्द भरा है, लेकिन उसमें मौत trpagedy लेकर नहीं आती। एक बहुत बड़े कैनवास पर बने एक विराट चित्र के finishing touch की तरह आती है, जीवन की चरम परिणति के रूप में आती है, एक पकी हुई ज़िन्दगी की अन्तिम परिणति, ऐसी मौत जिसमें बेहद शान्ति है, सन्तोष है, सान्त्वना है।

उन्नीसवें अध्याय से प्रारम्भ किया, जब अपने जीवन का अन्त निकट समझ कर भगवान कृष्ण ने ऊधो को भी विदा कर दिया है और ऊधो बद्रिकाश्रम चले गये हैं। वहाँ से भागवतकार ने भगवान की मृत्यु का प्रसंग प्रारम्भ किया है और उस समय परीक्षित ने भगवान की मृत्यु के विषय में जो

जिज्ञासा की है उसमें अपूर्व ध्वनि है। कहीं मृत्यु का संकेत नहीं, कहीं मृत्यु से सम्बन्धित वेदना, आँसू, घने दुःख और अभाव का जिक्र नहीं, परीक्षित की जिज्ञासा में एक स्वस्थ भावना है वे पूछते हैं—

ततो महाभागवत् उद्धवे निर्गते वनम्
द्वारवत्याम् किम् करोत् भगवान्भूतभावनः
ब्रह्मशापोपंसमृष्टे स्वकुले यादवर्णभः
प्रेयसी सर्वनेत्राणाम् तनुम् स कथमत्यजेत्

'महाभागवत् उधो के वनगमन के बाद द्वारिका में भगवान ने क्या किया ? ब्रह्मशाप से यादवकुल के भ्रष्ट होने के बाद सभी नेत्रों के प्रिय अपने शरीर को भगवान ने कैसे छोड़ा ?'

▲

उसके बाद वृद्धों और स्त्रियों को शंखोद्धार में भेजकर यादव कुल को लेकर भगवान प्रभास तीर्थ में आ गये। वहाँ ब्रह्मशाप से पागल यादव लोग भाई से भाई, मित्र से मित्र, सुहृद से सुहृद लड़ने लगे। उसके बाद बलराम ने समुद्र किनारे योग का आश्रय लेकर निर्वाण ग्रहण किया—और उसके बाद भगवान की मौत का स्थल आता है—भागवतकार ने उस समय भगवान के सौन्दर्य का जो वर्णन किया है उसमें अजब सी उदास सुन्दरता है—जैसे डूबते हुए सूरज की किरनें मुँदते हुए नीलकमल पर पड़ें—

वे उदास पीपल के पेड़ के नीचे बैठे हैं, चुपचाप सूखे पत्तों की शैय्या पर। धूमरहित अग्निशिखा सा उनका रूप जगमगा रहा है। श्रीवत्सधारी, बादलों से साँवले, तपे कंचन की तरह निष्कलंक, रेशम के दो पटों में आवेष्ठित, मंगलमय, मन्द मुस्कान में रंगे हुए होंठ, कन्धों पर भौंराले केश, कानों में जगमगाते हुए मकर-कुण्डल, और फूलों की माला में जगमगाता हुआ कौस्तुभ मणि—बायाँ पैर दाहिनी जंघा पर रक्खा हुआ। पाँव के तलवों में हिरण की आँखों का सा निष्पाप सौन्दर्य।

जरा नामक व्याध ने दूर झाड़ियों से उनके चरणों को देख कर उन्हें हरिण समझ कर तीर चला दिया—

भगवान ने उसे पास बुलाया और क्षमा कर दिया—

▲

भगवान क्षमा करें !

उनकी मृत्यु की कहानी पढ़ कर मुझे बेहद सान्त्वना मिली !

लेकिन फूलों की चोरी का वह अजब सा सपना देखने के बाद फिर मैंने भागवत का यह प्रसंग क्यों पढ़ा ? यह मुझे अभी तक समझ में नहीं आया ।

●

काले पत्थर की अंगूठी

२२ फरवरी १९५४

भाई पहले की बात जो हो, यह डायरी मैं क़तई उस भरे हुए मन से, पूजा-प्रार्थना की सी मनस्थिति में नहीं शुरू कर रहा हूँ जैसे और डायरियाँ की थीं; जो कभी तुम्हारी ही मेहरबानी से फाड़फूड़ कर जला दी गयीं। गम्भीरता-वम्भीरता की ऐसी तैसी। सोचता हूँ यह जो तमाम हँसी-ख़ुशी वाली शामें बह जाती हैं, अजब अजब सी घटनाएँ जुगनू की तरह चमक कर बुझ जाती हैं उन्हें क्यों न पन्नों में बाँध डाला जाय। उपन्यासों या कहानियों में ही उन्हें उतारा जाय इसकी कोई क़सम खाए थोड़े ही बैठा हूँ। मन होगा उपन्यास कहानियाँ लिखी जाँयगी, नहीं मन होगा नहीं लिखेंगे। जियेंगे तो आराम से, नहीं मर कर चल देंगे; कोई क्या कर लेगा? किसी का उधार खाए बैठे हैं? (ख़ैर भाई जान, उधार तो बहुतों का खाए बैठे हो—उँह होगा, खाए भी बैठे होंगे तो क्या, —)

असल बात यह है दोस्त कि कल का दिन बहुत ही दिलचस्प बीता। सुबह उठे। साइकिल उठाई। पहुँचे अपने मित्र-दम्पत्ति—मेहरोत्रा—के यहाँ असल में एक स्थानीय साहित्यिक संस्था द्वारा दोनों का अभिनन्दन होने वाला था। इस नगर में साहित्य-प्रेम तो प्लेग की तरह फैला हुआ है न! परिणाम-स्वरूप दोनों बहुत घबराये हुए व्याकुल बैठे थे क्योंकि जाते ही जो मैंने अभि-

नन्दन की बात छेड़ी कि दोनों उछल पड़े। फिर तो वह धमाचौकड़ी मचती रही कि न पूछो। लौटते समय आम का एक बौर और डहलिया के कुछ फूल आल्मन् से माँग लाये।

घर आये खाना खाया, उपन्यास के तीसरे संस्करण का प्राक्कथन लिखा ही था कि दोनों पति-पत्नी आगये। मेरे मित्र ने तय किया कि अभिनन्दन के नाम पर उन्हें सख्त बुखार चढ़ आया है अतः केवल उनकी पत्नी जायंगी। जब वे चली गयीं तो हम दोनों आराम से जम कर बैठे। इसी बीच में आगयीं कलाकार जी। वे अपना काम करती रहीं और हम और मित्रवर आराम से बैठ कर परनिन्दा का अपूर्व अलौकिक सुख लेते रहे। मित्र-पत्नी लौट कर आयीं तो जड़े हुए अभिनन्दन-पत्र लायी। उनके छोटे से होनहार फूलों के हार ले आये थे जिन्हें आते ही उन्होंने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक हमारे कुत्ते के गले में पहना दिये जो उन्हें आराम से टुकड़े-टुकड़े कर ऊपर-नीचे, आँगन-छत पर बिखेर आया।

और सहसा तय हुआ कि नुमायश चला जाय। (फरवरी का महीना था मगर माघ मेले में नुमायश लगी थी)। नुमायश का तय होते ही वक़्त उछलती हुई गेंद बन गया और हम उसे आँगन भर में उछालने लगे। सब लोग उठे।

नीचे आते ही माँ ने सहसा कविताएँ और गीत सुनने का प्रस्ताव रक्खा। सब लोगों में अप्रत्याशित उत्साह की लहर दौड़ गयी। बैठक में जमी गोष्ठी। —— ने मुश्किल से गला खोल कर स्वर साधा ही था कि पास के चौराहे से धँधंधन पशुशिरोमणि का करुण उदात्त स्वर उठा—फिर क्या था, हँसते हँसते हम लोगों का बुरा हाल। बहुत दिनों बाद यह अद्भुत सुख प्राप्त हुआ जो छात्रावस्था में कवियों की कविता सुन कर हूट करने से मिलता था। लेकिन माँ कटिबद्ध थीं कलाकार जी से गीत सुनने को। खैर हम लोग जिगर थाम कर बैठे, उनकी बारी आयी और गीत हुआ। गीत मधुमास के आने और उससे हृदय में अकस्मात् उत्पन्न हो जाने वाली वेदना आदि से सम्बद्ध था। निश्चय ही वह गीत उन्हीं का था। क्योंकि उसके तुक उत्तम, मध्यम और अधम तीनों ही कोटियों के परे थे और शैली में छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद तीनों का सानुपातिक सम्मिश्रण था। दूसरी बार भजन की ठहरी और मैंने अत्यन्त शरारत पूर्वक सुझाव दिया—गिरिधर नागर वाले गीत का। उनको इस सन्दर्भ का आभास भी न था। मैं बहुत ही रस लेता रहा।

लेकिन ज्यों ही हम लोग घर से चले कि श्री— बिल्कुल एक नादिरशाह स्टाइल की बड़ी बहन की तरह चौकन्नी हु ई और नुमायश में धंसते ही उन्होंने इन कलाकार जी के बारे में जाँच पड़ताल शुरू की। अब उनकी उत्सुकता का यह हाल कि दूकान पर खड़ी काश्मीरी क़ालीन देख रही हैं तो एक सवाल दूकानदार से और एक मुझ से—उसी साँस में। नतीजा यह कि इस हड़बड़ी में कभी-कभी मेरी ओर मुँह करके पूछें 'इस दरी का साइज क्या है?' और दूकानदार की ओर मुँह करके पूछें—'ये तुम्हें कब से जानती हैं?' मैं भी मन ही मन बहुत पुलकित होता रहा—उन्हें थोड़ी तपस्या कराई—जब नुमाइश घूम लिये, जायंट-व्हील पर झूला झूल लिये, चाट खा ली और चाय पीने बैठे तब मैंने उन्हें 'मीरा के प्रभु गिरधर नागर' का सारा आख्यान सुनाया। अब तो सब का हँसी के मारे बुरा हाल।

चाय पीकर फिर एक चक्कर लगाने की ठहरी। पहुँचे हम लोग बाँदे वाली दूकान पर। बाँदे के रंगीन पत्थरों के गहनों की दूकान थी। दूकानदार की बिक्री-विक्री कुछ हुई नहीं थी और वह इस तरह चिढ़ा बैठा था गोया हर ग्राहक को कच्चा चबा जायगा। सामान्यतया समस्त भारतीय जनता और विशेषतः इलाहाबाद की जनता के बारे में उसका दृष्टिकोण बिल्कुल वही था जो रूस के बारे में अमेरिका का और अमेरिका के बारे में रूस का है। मैंने बहादुरी से तय किया कि मैं पं० नेहरू का रोल अदा कर इस ग़लत-फ़हमी को प्राण देकर भी दूर करूँगा। कुछ न कुछ खरीद कर मानूँगा। बड़े चुनाव के बाद मैंने १६ रुपये की एक अँगूठी पसन्द की। काले सुलेमानी पत्थर की खरादी हुई अँगूठी बीच में पीला नक़ली पुखराज जड़ा हुआ। सोचा 'असाधारण' है। जरा जमेगी। उसे बार-बार डिब्बी से निकाल कर अंगुली में पहनता, फिर उतार, कर रख देता। सोचता था इस पर कौन-कौन क्या-क्या फ़ब्तियाँ कसेगा। सब क व्यंग-वचन सुन सुन कर लज्जित होने के लिये बड़ी उत्सुकता थी।

दूसरे दिन उसे पहन कर गया। पता नहीं किस बात पर उत्साह में आकर जो मेज पर हाथ पटका तो खटाक से अँगूठी चकनाचूर और मिस्ले-दिल—उसके हजार टुकड़े और कौन कहाँ गिरा इसका कोई हवाला नहीं। मारे संकोच के मैं कुछ कह नहीं सकता था और तब तक किसी ने मेरी वह प्यारी काले पत्थर वाली अँगूठी देखी भी नहीं थी कि वह चल बसी। लोगों ने पूछा—"क्या टूटा? क्या टूटा?" क्या बताता। मरे मन से कह दिया "कफ़ का

बटन टूट गया।" आधे घंटे बाद वहीं जाकर पुखराज उठाया। पता नहीं यह सगुन था या असगुन।

▲

ग्रीक लोगों की एक वीणा होती थी। हवा से बजती थी। डाल पर आहिस्ते से टिका दिया। तार झंकार देने लगे। मैंने भी आजकल अपने को बडी खूबसूरती से, बड़े आहिस्ते से कुंजों में, डालों से टिका दिया है। हर हवा का झकोरा मुझे झंकार देता है। और कुछ हो या नहीं कौन जाने, पर ताजगी तो है।

●

क्षणों की अथाह नीलिमा

२१ नवम्बर, ५६

जब आप ज़िन्दगी के भीड़भाड़ वाले राजमार्ग पर थके हारे हुए, भीड़ की लहरों में धक्के खाते हुए, विवश आगे ढकिलते जा रहे हों और आपको अकस्मात् एक छोटी पगडंडी रास्ते से फूटती दिखाई दे, जो परिचित हरीतिमा को गुदगुदाती हुई किसी अपरिचित ठिकाने को जा रही हो, तो मैं आप से आग्रह करता हूँ कि बिना कुछ भी सोचे समझे जल्दी से, तमाम ज़रूरी से ज़रूरी काम छोड़ कर उस पगडंडी पर मुड़ जाइये। कभी कभी थोड़ा पलायन बहुत स्वस्थ होता है।

इसका अहसास मुझे तब हुआ जब मैंने अपने को भटकते भटकते उस चर्च के अहाते में पाया जब सूरज डूब रहा था। और अकस्मात् मीनार पर घंटे बजने लगे और हम दोनों मरियम की मूर्ति के सामने खड़े थे। बड़ी शीतलता थी। नीचे नम धरती पर एक खास तरह की घास जमाई गयी थी; हरी, छोटी छोटी हथेलियों जैसी, जमीन को छाये हुए और तुम बेहद उदास थीं और मैं चुप, और अन्दर से भरा भरा। और बिना कुछ बोले जैसे मैं तुम्हारे मन को टटोल रहा था, सान्त्वना दे रहा था, और बिना कुछ बोले तुम अपरिमित ममता

से मुझे कण कण भरे दे रही थीं। और न मैंने तुम्हारी ओर देखा न तुमने मेरी ओर ··· हम दोनों मरियम की मूर्ति की ओर देख रहे थे और लगता था जैसे वहाँ हम मिल रहे हों, एक दूसरे मे घुल रहे हो और डूबते सूरज की हल्की सिन्दूरी छाह में मैं जैसे नहा कर ताजा हो उठा था ·····

सच तो यह है कि यह जो कम्बख्त साहित्य की जिन्दगी है यह इतनी कृत्रिम है, इतनी बनावटी है, इतनी अस्वाभाविक है कि मन घुटने लगता है। धीरे धीरे वे क्षण बिल्कुल दुर्लभ हो जाते हैं जब हम जीवन जीते हैं, गहराई में जीते हैं। अब मैंने सोचा है कि साहित्य की इस सार्वजनिक हलचल को जरा श्रद्धापूर्वक प्रणाम करूँगा। और अपनी जिन्दगी फिर पहले जैसी बनाऊँगा ··· फूल, धूप, प्यार और सुख-दुख के गहरे हिलकोरों वाली। खुशनुमा, उज्ज्वल, पवित्र और रंगारंग। पावस की शाम को बादलों में हजारों रंग की फूलछड़ियाँ खिल आती है न ··· बिल्कुल वैसी ही।

२६ नवम्बर ५६

और अकारण क्यों विश्लेषण किया जाय और क्यों तर्क-वितर्क किया जाय और क्यों उधेड़बुन की जाय और क्यों मन के चारों ओर रेखाएं खींची जायें? मन के चन्दन कपाट खोल दो और जो भी लहराती झकोर आ रही है उसे आने दो और अपने पूजागीत की वह पंक्ति मत भूलो ···· 'अर्पित होने के अतिरिक्त और राह नहीं।' क्षणों के इस अनन्त प्रवाह में अपनी पूजानत अंजलि डाल दो और जो कुछ बहता हुआ चला आ रहा है उससे हाथ मत खींचो, उसे दुलार से उठा कर कृतज्ञतापूर्वक माथे से लगा लो और फिर उसी बहाव में डाल दो जिसने वह दिया था ··· इदन्नमम्! इदन्नमम्! और इन क्षणों की अथाह नीलिमा में सिर्फ़ डूब जाओ ··· जैसे कोई किसी प्रभाती के आलाप में डूब जाय गहरे, और गहरे ··· और उसमें से निकले तो आँसू में धुला हुआ, अमृत में नहाया हुआ जिसका हर स्पर्श ज्योति का स्पर्श हो और हर आलिंगन ऐसा परम, ऐसा Absolute जैसे संगीत का स्वर तारों में लिपटा सोया रहता है।

क्षणों की अथाह नीलिमा! नीलिमा!! नीले रंग के साथ एक आसंग (association) है न ······ कितना पुराना और बार बार अपने को दुहराने वाला।

नीलेपन की पहली अथाह गहराई मुझे आच्छादित कर गई थी· · ·याद है कब ? जब मैं शायद बी० ए० में पढ़ता था और अल्फ़ड पार्क के एक हिस्से में दूर दूर तक सिर्फ़ नीली वर्बीना बोई गयी थी और नीले फ़्लाक्स - · · और फूलों के उस असीम नीले विस्तार में जाने क्यों मैं अकस्मात् रो पड़ा था । और उनमें से कुछ फूल लाकर मैंने कामायनी के पन्नों में दबा कर सुखाये थे और बरसों उन्हें सहेजे रहा था । किशोर मन की वह पहली सहज भावाकुलता कितनी मीठी थी । मैं एक १६ साल का बहादुर कोलम्बस नीलिमा के अज्ञात समुद्र में अपना छोटा सा जहाज़ लेकर निकल पड़ा था । और मेरे उस अत्यन्त मधुर व्यक्तित्व में सभी जहाज़ियों का अंश था · · · यूलिसिस भी, सिन्दबाद भी, कोलम्बस भी और थोड़ा-थोड़ा ग्रीक-कथाओं का वह इकारस भी, जो आकाश में ऊपर उड़ा था, पंख जल जाने से नीचे समुद्र की एक चट्टान के पास आ गिरा था और कहते हैं जलपरियाँ उसके शोक में आज भी आधी रात को उदास गीत गाती हैं और उनके पंखों पर उड़ने वाली सुनहरी मछलियाँ आ बैठती हैं और उनकी अलकों से खारे पानी के मोती चूते रहते हैं और गले में, बाहों में, वक्ष पर जलफूलों वाली सिवार लिपटी रहती है ।

आपने कभी जलपरी देखी है ?
नहीं ?
मैंने देखी है ।

क्वार-कातिक के आसमान में अकस्मात् ऊदे-ऊदे बादल घिर आये थे · · · · बहुत बरस पहले की बात है · · · और घुप अन्धेरा था और बीच बीच में बिजलियाँ चमक रही थीं, खिड़की के सामने दूर तक जाती हुई पक्की गली, गली की सीढ़ियाँ, मकानों के खाली चबूतरे, छतें, और ऊपर टँगे हुए आकाशदीप उन बिजलियों के प्रकाश में वैसे काँप उठते थे जैसे जल में पड़ती हुई किसी नगर की छाया काँप काँप उठे और एक अजीब बात थी उस दिन कि बिजलियाँ गहरे नीले, बल्कि बैंजनी रंग की थीं · · · लेकिन उसके बारे में और कुछ नहीं बताऊँगा सिर्फ़ इतना बताऊँगा कि एक दिन तो नीले फूल ऐसे लगे थे जैसे नीले क्षण खिल आये हों और असीम विस्तार में फैल गये हों · · · पर उस दिन नीलेपन के दूसरे आयाम का बोध हुआ · · · विस्तार नहीं बल्कि असीम गहनता और किसी निकट खड़ी जलपरी के केशों पर, माथे पर, कन्धों पर, बाहों पर फिसलती हुई क्वार की बौछार की असीम मधुराई और कोमलता ! और उन दिनों मैं आस्करवाइल्ड की कुछ पंक्तियाँ दोहराया करता था

जो अब पूरी तो याद नहीं पर पहला टुकड़ा था ··· "White body made for love & pain" और अन्तिम टुकड़ा था "Desolate blue flower beaten by the rain.'

▲

और दूसरे क्षण की अथाह नीलिमा मुझे याद आ रही है, भरा भरा चाद चढ़ आया था ··· और चारों ओर सन्नाटा और नीले थाल से झरने वाली गोरी चाँदनी···मादक गन्धमयी···और मड़िहान के श्वेत कमल-सम्पुटों से मैंने जिनका संकेत किया था न, उनके बीच एक नीले कमल की कली जिसका शोख पतला शरारती मृणाल गले को घेर कर्णमूलों को छूता हुआ (बरसों पहले की बात है मेरे एक कवि और चित्रकार मित्र ने बहुत डूब कर पूछा था···"तुम प्रणयोन्माद का रंग क्या मानते हो?" मैंने कहा था···"नीला···फ़ालसई नीला"···) और फ़ालसई नीली लहरों की एक गुंजलक दो छेड़े हुए तार सरीखे कांपते हुए जिस्मों को कस लेती है, जकड़ लेती है, बहा ले जाती है।

और क्षण की अथाह नीलिमा का एक दूसरा चित्र मेरे स्मृतिपट पर उभर रहा है···आग का धुन्ध। हल्के नीले पुते मेरे कमरे में धूप के धुएँ की लहरों का जाल। ऊपर सिर्फ़ एक लजीली नीली बत्ती जल रही थी और सिरहाने तिरछी कुर्सी पर तिरछी बैठी हुई मृदुल नील ममता। मुझ पर आशीर्वाद सी छायी हुई···चन्दन के धुएँ सी अगाढ़ और पवित्र और पूजामयी और एक अनन्त गहराई और अनन्त ऊँचाई वाला प्यार जो देने से घटता नहीं, जो आदमी को ऊँचा उठाता है···उदार, प्रांजल, सहज और सशक्त बनाता है···

और नीला क्षण एक वह भी था जब हिमालय की घाटियों में पहली बार नीले बादलों के श्वेत अन्धकार से घिर गया था और सब कुछ लुप्त हो गया था और विराट के सामने मैं अकेला था—बिलकुल अकेला···

और ऐसे क्षणों में जब मनुष्य विराट के सम्मुख अपने को बिल्कुल अकेला पाता है तो वह एक बार अपने सारे अस्तित्व को मुड़ कर देखता है, जाँचता है और पाता है कि सब नष्ट हो गया है, सिर्फ़ वे चन्द क्षण बच रहे हैं जिनमें उसने अपने को दिया है असीम ममता से, असीम पवित्रता से, असीम माधुर्य से···बाकी सब झूठ है···कटुता, द्वेष, पार्थक्य, खाइयाँ, शिविर, दीवारें, सब मनमानी हैं···असली नहीं···असली है केवल ममता··· केवल माधुर्य।

१ जनवरी १९५७

बादलों से ढँकी हुई जाड़े की सुबह। ठिठुरे हुए खामोश पेड़। कल रात दिल्ली से लौटने के बाद जरूरी था कि कमरे की सफ़ाई की जाय। कौन से पाप दिल्ली ले गये थे भगवान। एक सम्मेलन में एशिया भर के लेखक जुड़े थे। क्या क्या कुण्ठित महत्वाकांक्षाएँ, आहत अहम्···नौकरशाही हथकंडे, दुराग्रहपूर्ण वक्तव्य, नकली चेहरे, खपाचियाँ, भरे हुए भोंपू, सजे हुए हाल और रंगबिरंगी पार्टियाँ। उस अत्यन्त अरुचिकर स्थान से अपने इस छोटे से शान्त घर लौटना कितना सुखद है जहाँ क्यारी क्यारी छींटेदार रंगीन फूलों से भर गयी है और खिड़की से डहलिया उझक उझक कर हँसी बिखेर रही है। मैं जी भर कर नहाया, और दिमाग़ और दिल पर से दिल्ली को उतार फेंका और पाठ करने बैठा तो अकस्मात रामायण का जो पृष्ठ खुला उसका पहला दोहा था···

नील सरोरुह, नीलमणि, नील नीरधर स्याम
लाजहिं तन सोभा निरखि, कोटि कोटि सत काम

और पता नहीं क्यों मेरा बदन काँप उठा और पलकें छलछला आयीं···ऐसा लगा कि इन नीलिमा में डूबे हुए परम क्षणों की एक अजस्र धारा नीचे नीचे कहीं प्रवाहित हो रही है। ऊपर ऊबड़ खाबड़ चट्टानें हैं जिनके नीचे वह ज़मींदोज़ बहती जा रही है। चलते चलते मैं उसे भूल जाऊँ पर एक क्षण को भी रुकता हूँ तो उस अन्दर बहने वाली निर्झरिणी का धीमा कल कल फिर गूँजने लगता है।

▲

मैंने कभी मृत्यु के बारे में नहीं सोचा, पर कभी कभी यह जरूर सोचता हूँ कि जिये जाने वाले क्षणों की यह जो अन्तर्ग्रथित शृंखला है इसका कहीं न कहीं तो अन्त होगा ही। और जब होगा तब कुछ खास नहीं होगा···मैं तो, स्वर्ण-पराग सा उसी तरह महकता रहूँगा सिर्फ़ नीले क्षण पाँखुरियों की तरह ऊपर से घिरने लगेंगे, सिमटने लगेंगे और धीरे धीरे फूल मुँद जायगा। और फिर सब शान्त हो जायगा। सिर्फ़ डूबती साँझ में मुँदे कमल की हल्की उदास छाँह थोड़ी देर तक सरोवर में काँपती रहेगी, काँपती रहेगी···और बस।

चाँदनी में कोकाबेली

१० फरवरी १९५७

अभी दो घण्टे पहले चाँदनी में इलाहाबाद की लम्बी नाजुक सड़कों पर बेतहाशा मोटर दौड़ा रहा था तो मुझे अकस्मात उस दिन की याद आ गयी जिस दिन नुमायश से लौट कर मेरे अतिथि का मूड बुरी तरह उदासी से भर गया था और उसे अकेला छोड़ देना ही श्रेयस्कर लगा। मैं चाँदनी में घूमने के लिये आतुर था और घर से निकला तो ...भी साथ हो ली। उस दिन घूमते-घूमते मैंने ....को एक घटना बताई कि एक बार मैं ट्रेन पर जा रहा था। शाम हो गयी और मैं दरवाजे पर खड़ा अनमना सा बाहर की ओर सूर्यास्त देख रहा था। कब उदास सूरज छिप गया। कब शाम उतर आयी। कब चाँद उग आया, कब चाँदनी छिटक आयी—मुझे कुछ पता ही नहीं लगा। यह बेहोशी टूटी तब, जब मैंने देखा कि लाइन के बगल में एक चौकोर पोखरे में कोकाबेली की एक शुद्ध श्वेत कली है। ट्रेन जितनी तेज है उतनी ही तेजी से वह पोखरा और उसमें की कली मेरी ओर दौड़ती चली आ रही है और मैं खड़ा हूँ—शिथिल, उन्मुक्त, खुला हुआ और कली तेजी से दौड़ती आती है, दौड़ती आती है और गोली की तरह मुझे आरपार छेदती हुई निकल जाती है।

पर सचमुच कभी यह घटना घटी भी थी या उसी समय मेरे मन ने परिकल्पित कर ली थी और बाद में अपने को विश्वास दिला दिया कि हाँ ऐसा

ही कभी घटित हुआ था। कभी-कभी किसी जगह को देख कर हमें लगता है कि हम यहाँ अवश्य आये थे चाहे हम कभी भी उधर से न गये हों। वैसे ही कभी-कभी किसी घटना के बारे में यह लगने लगता है चाहे वह कभी भी न घटी हो। क्योंकि आज की चाँदनी में मुझे बिल्कुल दूसरा ही अहसास हुआ। यह लगा कि वास्तव में वह कली श्वेत न होकर हल्की नीली थी और वह आकर आर-पार नहीं छेद गयी वरन् मैं शिथिल, रिक्त, शून्य खड़ा था, वह आयी और उसका लम्बा पतला मृणाल कलाई में, बाहों में, कण्ठ में, प्राणों में बन्धन की तरह लिपटता चला गया......

उचटी नींद

क्या हो गया है ? सो क्यों नहीं पा रहे ?

ग्यारह बजे के करीब ऐसा लगा कि शायद सो जाऊँगा। पर उसी समय अकारण जो नींद उचटी तो उचट ही गयी।

लैम्प बुझा कर पड़ा रहा। सामने खिड़की में से एक पेड़ और उस पर चाँदनी के बड़े-बड़े विशाल धब्बे दीखते रहे। दूर कहीं कभी-कभी मोर बोल उठते थे और एक कोई पक्षी—पता नहीं कौन सा—अनवरत रट से बोलता रहा। क्या चक्रवाक था ?.........। चाँदनी रह-रह कर काँप उठती थी जैसे कोई स्तब्ध जल में कंकड़ डाल कर उसे कँपा दे।

तीन बार उठ कर बाहर गया। थोड़ी देर आँगन में टहलना चाहता था पर बरामदे में कई अतिथि सो रहे थे, अतः संकोच लगा। कुछ किताबें पलटता रहा, बेमतलब, बेमानी।

सब के बीच—इतना अकेला क्यों हूँ ? आखिर क्यों ?

जागते-जागते तीन बज गये हैं। सिर्फ़ मेरी टूटी घड़ी मेरे साथ जाग रही

है। अभी दो बज कर चालीस मिनट पर अकस्मात बन्द हो गयी। मुझे बड़ी घुटन महसूस होने लगी। मैंने उठ कर फिर चला दी।

यह जो समय का अनवरत प्रवाह है इसे मैं किसी प्रकार अंजलि में लेकर पी जाता!

एक ट्रेन दूर किसी लोहे के पुल पर से गुजर रही है। पता नहीं कहां जा रही है? काश मैं इसमें बैठा होता और कहीं जा रहा होता। काश कि यह ट्रेन मुड़ जाय और आकर मेरे बँगले के फाटक पर रुक जाय। सारी ट्रेन खाली हो और मैं अकेला इसमें बैठ जाऊं और यह चल पड़े। और किसी घनघोर बियाबान जंगल में किसी पुराने जर्जर पुल से यह गिर कर चूर-चूर हो जाय तो?

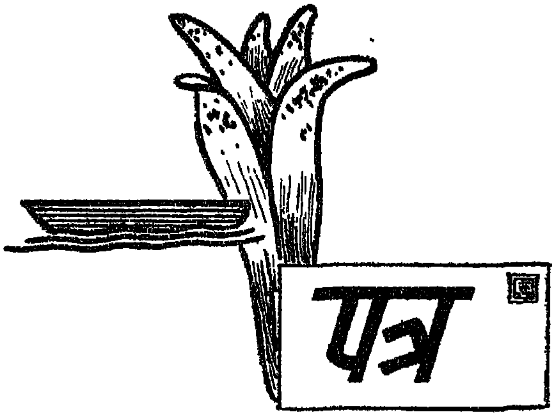
कुछ भी हो—जीवन की यह एकरसता तो भंग हो।

२८, मार्च, १९५७

केवल कौतुक वश

मेरे आँगन मे यह जो आम का बहुत पुराना पेड़ है और आजकल बौर से लद गया है—शाम होते ही उस पर एक रहस्यमय जादू छा जाता है। अक्सर चैत की आधीरात मे उसमे से कोई महकते हुए अँधियारे का एक जाल फेंकता है और लतर सजे दालान में की एक सोने की मछली उसमें उलझ जाती है; ऐसे समय में मुझ जैसे लोगों को किनारे पर तटस्थ खड़े होकर उस छोटी-सी प्यारी-सी सोनमछली को जल में रहकर भी जाल में छटपटाते हुए देख कर बहुत शरारत भरा आनन्द मिलता है। इस आम के पेड़ में से कौन सा यक्ष यह इन्द्रजाल का कौतुक करता है यह मुझे नहीं मालूम। सच तो यह है कि जहाँ जो भी कौतुक होता है उसके बारे में ज्यादा समझने की चेष्टा न कर उसका आश्चर्य भरा आनन्द लेना ज्यादा अच्छा लगता है। कभी-कभी सोचता हूँ एक पूरी रात जाग कर कुछ न करूँ केवल आम से फेंके हुए इस जादू-टोने का रहस्य ही मालूम करने में लगा रहूँ लेकिन फिर डरता हूँ कि ऐसे जाल में कहीं मेरे पंख का एक कोना भी उलझ गया तो मैं क्या करूँगा। इसीलिये मैंने सोचा है कि मैं पहले जुबान की खूब तेज कैंची बनवाऊँगा ताकि वह जाल को आसानी से काट दे और सिर्फ़ उतने हिस्से को रहने दे जितने हिस्से में वह सोनमछली जल में रह कर जाल में छटपटा रही हो. . .

—१० अप्रैल १९५७ की दोपहर


पत्र

फूल-पाती

वही जाली वाला बरामदा, बादलों में लिपटी चाँदनी रात और वहीं बड़े-बड़े बादामों जैसी आँखों वाली क०,.....................

इधर आँगन की रातरानी गहगहा कर फल उठी है और जब घर की सारी बत्तियाँ बुझ जाती हैं और मैं बरामदे में खड़ा रहता हूँ या आँगन में टहलता रहता हूँ, तब एक बेहद नशीली महक मुझे आकर बहा ले जाती है। सुनो, इस छोटे से फूलबसे घर में मुझे कभी-कभी बड़े अजीब अनुभव हुये हैं। उनमें से एक फूलों की सुगन्ध के बारे में है। मुझे अक्सर ये लगा कि ये फूल निरन्तर यकसाँ नहीं महकते, रह रह कर सगन्ध की लहरें फेंकते हैं। एक जगह खड़े हो जाओ। तेज़ खुशबू आयेगी फिर मन्द पड़ जायेगी, फिर तेज हो जायेगी। जैसे समुद्र किनारे खड़े हो न......एक उत्ताल लहर आयेगी, दूर बालू पर छहरती हुई आयेगी, आपके पाँव भिगो कर लौट जायेगी; थोड़ी देर बाद फिर आयेगी।

ठीक वैसे ही आजकल अपन बरामदे में लेटे रहो तो लगेगा कि अन्धेरे में सुगन्ध के किसी अथाह समु के किनारे हम पड़े हैं। सब शान्त है। अकस्मात सुगन्ध की एक लहर आती है हमारे अंग अंग भिगो कर रोम रोम सिहरा कर फिर लौट जाती है। लगता है सुगन्ध से हमारे केश

भीग गये हैं, और हमारे कन्धों पर टप टप सुगन्ध चू रही है। ऐसी है यह हमारे घर के आँगन की ढीठ, भरपूर खिली हुई चंचल रातरानी......मिनट मिनट के बाद अन्धेरे में सुगन्ध के सागर की भाँति लहरा कर कभी मुझे, कभी क० को जादू मे बाँध देने वाली बहुत बेईमान और बहुत पवित्र और बहुत निडर और बहुत बहुत सुकुमार।

सुनो! तुम्हे याद है उस दिन......जी आये और कमरे के अन्दर उनमें और क० महारानी में खूब उदात्त स्वर में शास्त्रार्थ होने लगा तो हम उस कमरे में से डर के मारे भाग आये। थोड़ा पानी बरस चुका था और आँगनवाला लॉन भीगा था और दोपहर को न सो सकने से मन पर अजब आलस्य था और चाय की प्रतीक्षा करना भी बेहद सुखद लग रहा था और तुम घूम घूम कर हमारे गलाबों की जाँचपड़ताल कर रहीं थीं। तब मैंने गुलदाऊदी के नये गमले दिखा कर कहा था कि अगर मेरा वश चले तो मैं एक नया कैलेण्डर जारी करूँ जिसमें दिन, सप्ताह, मास, वर्ष से गिनती न होकर फूलों के बोने, उगने, फूलने और झरने से महीनों और बरसों की माप की जाया करे। जिस साल गुलदाऊदी न खिले....उस साल मान लिया जाय कि कोई बंधकर ....पुर नहीं जायेगा पर जिस साल गलदाऊदी खब फले, सब अपने बिस्तर बाँधकर, रंगबिरंगे ओवरकोट पहन कर, एक अत्यन्त सुन्दर चेन और मेडल वांई ओर लटका कर गर्दन झटकारते हुये कहे—"सुनो! अब तो हम ....पुर जायेंगे।" और जब क्यारियों में रंगबिरंगे फ़्लाक्स फूल आवें और लॉन बहुत सुन्दर हो जाय तब सब लोग बाहर से लौट आवें और लौटते समय अपनी उँगली खिड़की की चौखट पर रख कर ऊपर से शीशा गिरा दें और फिर आकर दरी बिछा कर हरी घास पर हलकी रेशमी धूप में बेसुध सो जायें। या जब लम्बे लम्बे तीरों जैसे ल्यूपिन के नीले छड़ीदार फूल सड़क के किनारे किसी अकेले बँगले में फूलें तब सब अपनी टूटी मोटरें लेकर पुल पार कर, गंगा पार कर, देहाती सड़क पर चलते चले जायँ....और जहाँ कोल्हू लगा हो, अलाव सुलगा हो वहां उतर कर गन्ने के रस की खोज करते रहें और लौटते समय नीले छड़ीदार फूल चुरा लावें। और जब नीबू के फूल फूलें तभी बसन्तपंचमी मान ली जाय और बसन्ती साड़ियों पर रुपहले गोटे टाँक लिये जायें। लेकिन जब आँगन में खामोश खड़ा आम का बौरलदा पेड़ अन्धेरे के सागर में सौरभ के जाल फेंकने लगे तब? और जब गर्मियाँ शुरू हो जायें और बेला फूलने लगे तो हरेक को इजाजत मिले कि सुबह सबह उठकर ओस से भीगे बेले के शाहजादे जैसे फूल चुन चुन कर अँजुली भर

भर कर किसी तारघर में शरारत से फेंक कर भाग जाय और भरी बरसात म जब जूही फूल उठे तो तभी हुक्म हो कि जूही की गझिन सफ़ेद मालायें अपनी कलाइयों में लपेटकर लोग रात रात बातों में डूबे रहें...........और यह जो Macgrady Ivory नाम का हाथीदाँत जैसा सफेद और Macgrady Sunset नाम का पीला स्वर्णिम गुलाब है....ये दोनों जब फूलें.......तभी सलूनों मान ली जाय और बहनें राखी बाँधने आवें और ये दोनों गुलाब साक्षी रहें क्योंकि एक का रंग स्वर्णिम है राजसी रंग, जिससे मालूम हो कि बहनों में किसी का नाम राज्यश्री भी है।

जिन्दगी को फूलों से तौलकर, फूलों से मापकर फेंक देने में कितना सुख है। तुम कभी आगरे क किले गई हो। वहाँ एक पत्थर का हौज़ बताया जाता है जिसमें नूरजहाँ गुलाब के फूल भरवा कर नहाया करती थी। उसी में उसने इत्र का अविष्कार किया था। अगर मध्ययुग में मैं पैदा हुआ होता न,...... तो मैं नहीं कह सकता कि मैं शेर अफ़गन और जहाँगीर दोनों से ज्यादा नूरजहाँ को न प्यार करने लगता......इसलिए नहीं कि वह सुन्दर थी...... उंह कोई मेरी क०.....से ज़्यादा सुन्दर थोड़े ही रही होगी पर फिर भी मैं उसे इसलिए प्यार करने लगता कि वह फूलों से नहाती थी।

मेरे एक दोस्त...........हैं न!.................उनका असली घर........बाद में है।...........बाद में आसुफ़द्दौला का बनवाया हुआ एक बड़ा हसीन छोटा सा चौक है। सैकड़ों मेहरावें, कंगूरे, ताख, कारनिसें, छोटे छोटे घर। उसके मुख्य चौराहे पर गर्मी के दिनों शाम को बीसियों माली खड़े रहते हैं---बेला, मलौंदी, नेवाड़ी, मालती, जूही के इतने मोटे मोटे गजरे कि बस पूछो मत और हर गजरे का दाम दो पैसे, एक आना। मै हर गर्मी की छुट्टियों में एक हफ़्ते को उनके घर......बाद जाता था सिर्फ़ इसलिए कि हर शाम को एक रुपये की २५, २६ मालायें खरीदता था और घर पहुंचकर माँ को, भाभी को, उन्हें, उनके पिता को, उनके छोटे भाइयों को मालाओं से लाद देता था और फिर फूलों से लदेफंदे हम सभी ऊपर की ठण्डी छत पर अमृत सी चाँदनी में जा कर बैठ जाते थे और अपने निहायत महीन और दर्द भरे स्वर में गुड्डी गाना शुरू करती थी, "ये रातें, ये मौसम, ये हँसना हँसाना— इन्हें ना भुलाना, हमें भूल जाना।" और वह दर्द भरा स्वर चाँदनी रात में लहराता था, लहराता था और कब हम लोग सब उसी के साथ साथ झूमते हुये वही गुनगुनाने लगते थे—इसका पता भी नहीं चलता था और गीत बढ़ता चलता

था, "ये बदली का चलना, ये बूँदों की रुमझुम, ये मस्ती का आलम, ये खोये से हम तुम। तुम्हारा मेरे पास ये गुनगुनाना—इन्हें ना भुलाना—हमें भूल जाना।" गुड्डी न केवल नाम की, बल्कि अवस्था की भी तब बिल्कुल गुड़िया थी और उसकी आदत थी कि जब गाते गाते बहुत विभोर हो जाती थी तब उसके आगे जो भी बैठा हो वह अपनी छोटी छोटी गुड़ियों की सी कोहनियाँ उसके कंधे पर रख लेती थी और झूमती हुई गाती रहती थी। और जब गाना खत्म हो जाता था और तब सब अपने अपने में बहुत गहरे गहरे डूब जाते थे और तब बेचारी अम्मा सबको अपने अपने बिस्तर की राह बताती थी। और मैं सिर्फ़ महक से अपना बिस्तर पहचान लेता था क्योंकि बची हुई सारी मालाएं मेरे बिस्तर पर रख दी जाती थीं। और मालूम है मैं कैसे सोता था?............तकिये से काफ़ी नीचे खिसक जाता था और बेले के फलों में अच्छी तरह अपना मुँह छिपा लेता था और माथे पर, होठों पर, पलकों पर बेले का शीत स्पर्श मुझे आच्छादित कर लेता था।.........बेचारी अम्मा मुझे रात में जगा कर कहती थीं...... "राम! राम! कैसे सोये हौ भारती? आधी खटिया तो छोड़ दिये हौ. . . .कहीं फूल में इतना मुँह डाल कर सोवा जात है। ठण्ड लग जइहै भइया!" पर कहाँ की ठण्ड और कहाँ की बीमारी। जो खुद ही बीमार हो उसे कहाँ की बीमारी लगेगी? बीमारी तो मुझे हो चुकी थी.........बेले की शीतोज्ज्वल ढेरियों में माथा, पलक, होंठ डुबका कर घुल जाने की............इतना बड़ा हो गया पर वह बीमारी अभी तक गई नहीं। आज तक बेले के फूल मेरी कमजोरी हैं।

और एक बात तुम्हें बताऊँ। ये जो जड़ी-बूटियाँ हैं न! इनसे भी ज्यादा बीमारियों में फूल फ़ायदा करते हैं। अगर मुझे दो तीन जीवन केवल फूलों में ही बिताने दिये जाँय तो मैं बिलकुल बता सकता हूँ कि कौन सा फल कौन सी बीमारी में फ़ायदा करता है। फिर भी कुछ अनुभव इस जीवन का भी है ही। उसके आधार पर बता सकता हूँ कि जब किसी को बहुत तेज बुखार हो तो उसके सिरहाने चाँदी के तश्त में ढेर सी गुलाब की पंखुरियाँ रख दो, उसमें धूपबत्तियाँ खड़ी कर सुलगा दो। ज्यों ज्यों राख के छोटे छोटे स्तूप पंखुरियों के ढेर पर बनते जायेंगे त्यों त्यों बुखार कम होता जायेगा। टाइफ़ाइड के लिए दूसरी दवा है। जब टाइफ़ाइड वाले को देखने जाइए रास्ते में पान के से पत्तों वाली एक लतर दीवार पर, खपरैल पर फैली मिलेगी। उसमें घण्टीदार नीले फूल खिलते हैं। उन फूलों को टहनियों सहित तोड़ लीजिए—ले जाकर चुप्पे से सिरहाने रख आइए। टाइफ़ाइड दो दिन में हवा! एक फूल तो मुझे मालूम है

जो पास में रहे तो कोई बीमारी आसपास तक नहीं फटक सकती। जानती हो कौन सा फल ?..............लाल कनेर!

कुछ फूल बड़े खराब होते हैं। उनसे यथासंभव आदमी को बचना चाहिये। मसलन यहाँ एक बाग़ है। उसमें ऐसे जोरदार फूल खिलते हैं, ऐसे जोरदार, कि सुनते हैं एक बार बेचारी माँ आनन्दमयी तक उनके बीच में बिलकुल अपनी सुधबुध खो बैठी और घोर विराग से घनघोर अनुराग की तन्मयता में सदा सदा के लिए डूब गयीं। मुझको जब से किसी ने यह बताया तब से मारे डर के मैं उधर पाँव नहीं रखता। कौन जाय ऐसी खतरनाक जगह। खामखाह अपनी जान ववाल में डालने।

कुछ फूल हैं उनमें भी करीब करीब यही तासीर है पर वे मुझे डरात नहीं क्योंकि उनका जिक्र मेरे प्रिय कवि जायसी ने किया है। मध्यकाल के कवियों में केवल जायसी ही ऐसा लगता है जो सचमुच बाग और उपवन भटक भटक कर फूलों के जादू में डूबा रहा है। तुम्हें यकीन न हो तो पद्मावत उठाकर देखो— बसन्त-खण्ड खोलो——

आजु बसन्त नवल ऋतुराजा
पंचमि होइ जगत सब साजा

और जब वसन्त-पूजन के लिये सब सखियाँ निकलती हैं तो वह कहता ह—

पुनि बीनहिं सब फल सहेली। खोजहिं आस पास सब बेली॥
कोई केवड़ा, कोई चम्प नेवारी। कोई केतकि मालति फुलवारी॥
कोई सदबरग, कुंज, कोई करना। कोइ चमेलि, नगेसर बरना॥
कोइ मौलसिरि, पुहुप, बकौरी। कोई रूपमंजरी, गौरी॥
कोई सिंगारहार तेहि पाहाँ। कोई सेवती कदम की छाहाँ॥
कोई चन्दन फूलहि जनुफूली। कोई अजानबीरो तर भूली॥
फल फूलन्ह सब डार ओन्हाई। झुंड बाँध के पंचमी गाई॥
नवल बसन्त नवल सब बारी। सेन्दुर बुक्का होई धमारी॥

यहाँ तक उन्हें सारी सृष्टि फूलों का जाल लगती है और वे उसका तत्व समझना चाहते हैं—

आइ बसन्त जो छपि रहा, होइ फूलन्ह के भेस ।।
कहि विधि पावौं भौंर होई, कौन गुरू उपदेस ।।

मुझे भी कभी कभी लगता है कि मैं समय को फूलों के कैलेण्डर में बाँध दूँ, दिशाओं को फूलों की पंखुरियों में बसा दूं, मन के हर आरोह अवरोह को और भावना के हर आवेग को फूलों की पर्तों में दबा दूँ और और यह निखिल सृष्टि फूलों का जाल बन जाय और मैं इसका रस मर्म पाने के लिए उतना ही आकुल हो उठूँ जितने जायसी............'केहि विधि पावौं भौंर होई ?'

इसके अलावा जैसे अब और न कोई मुझे जिज्ञासा रही है न कोई प्यास। मैं तो खुद फूलों में डूब डूब कर वही हो गया हूँ। बेले की शीतोज्ज्वल ढरियों में घण्टों डूब डूब कर पवित्र हुआ माथा, खुमारभरी रातरानी की वेगमयी गन्ध-लहरों से नम हुआ मन, तीन जरी के फूलों वाली एक डोर में गुंथी हुई मर्यादा जिसकी पवित्रता अनिर्वचनीय है—और लाल कनेर और नीले कमल और मेरे बचपन का प्रिय नैस्टर्शियम।

इस पुनीत अवसर पर यह अपने फूल-शब्द तुम्हें अर्पित करता हूँ—ये शब्द मुझसे भी ज्यादा मूल्यवान् हैं क्योंकि मेरे बाद भी ये बने रहेंगे। जायसी ने भी कहा है :—

गलि सोइ माटी होइ लिखने हारा बापुरा ।
जो न मिटावै कोइ, लिखा रहै बहुतै दिना ।।

सो मैं तो लिखने वाला हूँ, गल कर मिट्टी हो जाऊँगा। यह जो लिखा है मैंने वह बना रहेगा, जब तक कोई अपने हाथों से इसे मिटा न दे......

लाल कनेर के फूल और लालटेन वाल नाव

अजब सी चाँदनी रात है। बादलों की एक हलकी झीनी परत और नीचे उमसती हुई धरती; कुछ उजाले, कुछ अन्धेरे में खड़ा हुआ आँगन का आम :

मुझे आज १५ दिन बाद समय मिल पाया है कि आपको बैठ कर पत्र लिखूं। आपका दिया अमूल्य क़लम मेरे हाथ में है, पंखे की हवा मे रह रह कर होठों की तरह कांप उठने वाला पैड सामने है और मन मे यह असमंजस कि आपको कैसे लिखूँ? आपकी मांग है कि आपकी इस क़लम से कहानियां लिखूँ न, या कोई नया उपन्यास? ठीक वही सही। पिछले तीन साल से एक अजीब सी मानसिक जड़ता में उलझा रहा। एक तो इसने डुबाए रक्खा·············· और एक·················वह जाने दीजिए। पर अब लिखना शुरू करूँगा।

तो पहले आपको कौन सी कहानी सुनाऊँ यह सोचता हूँ। कहानियाँ इधर बहुत सी दिमाग़ में घूमती रही हैं। जब जो रच जाय। एक कहानी एक लाल कनेर के गुच्छे की है, वह गुच्छा एक सुकुमार, लहराती हुई तनयष्टि वाली लड़की के हाथों में है और वह लड़की एक नदी किनारे रेत में से चली आ रही है, और वह थक गई है, घाट दूर है, और शाम हो गयी है················ उसकी याद आते ही पता नहीं मुझे नीले फूल याद आते हैं और अभी जब कल डायरी में उसके बारे में लिखने बैठा तो मैंने उसमें एक अक्षर भी नहीं

लिखा—एक क्यारी में एक अकेला लार्कस्पर का पौधा फूला रह गया है। उसके दो बहुत छोटे सुकुमार फूल मैंने तोड़ कर डायरी के पृष्ठों में रख दिये। देखें वे छोटे नीले फूल उससे क्या कहते हैं ?

एक कहानी और दिमाग में घम रही है। दूर दूर तक घना अंधेरा। गंगा की मुख्य धारा बहुत दूर है पर एक धारा इधर इसी किनारे छूट गई है। ठहरा हुआ पानी, गम्भीर, शान्त ....जो न कहीं ले जाता है, न कहीं से आता है, जो बस ठहर गया है, प्रवाहहीन, दिशाहीन, गतिहीन। किनारे बैठे हुए हैं हम। मैं और ....वह जो बरसों बाद लौट कर आई है सिर्फ़ चन्द हफ़्ते रह कर लौट जाने के लिए। और वह निश्चिन्त है और भरी-भरी सी है, और वक्त का बहाव थम गया है, और मैं हूँ कि अपनी तमाम उम्र को चीरता हुआ पीछे लौट गया हूँ, बरसों पीछे..........................और अकस्मात दूर किनारे पर कुछ स्पन्दन होता है। एक छोटी सी नाव जिस पर एक लालटेन लेकर कोई बैठा है चल पड़ती है। कहाँ जा रही है नाव ? कौन है इस पर ? इस थमें बहाव में यह तैरती हुई लालटेन वाली नाव.........बिलकुल साधारण सी, इतनी रहस्यमय क्यों लग रही है ? और अकस्मात मैं पाता हूँ कि मेरा मन डूबने सा लगा है। अनजाने उसके चरणों के पास मेरे हाथ हैं; और मेरी आँखें नम हो आई हैं। और मुझे लगता है कि पहली बार उसे खो देने की जो असह्य यन्त्रणा मैंने भोगी थी वह फिर जैसे ताज़ी हो आई है... टीस उठती है। सिर्फ़ इसलिए कि घने अन्धेरे में, शान्त बँधे हुए जल में एक लालटेनवाली नाव तैर जाय ....मैं विह्वल हो जाऊँ, इसका कोई तर्कपूर्ण कारण है ? कोई नहीं। इस ज़िन्दगी में कितना कुछ है जिसका कोई कारण नहीं है पर वह सभी सकारण चीज़ों से अधिक मन को कुरेद जाता है।

और एक कहानी और है, और एक और, और एक और..............पर एक बात बतलाइए..................इन कहानियों को जीने में पीड़ा तो होती ही है, इनको लिखने में क्या नहीं होती ? यह सब क्यों भोगा जाय ? पर अब तो आपकी दी हुई क़लम मेरे हाथ में है और आपके लिए कहानी या उपन्यास लिखना ही है—अच्छा तो लिखूँगा।

पर फिर भी यह सवाल उठता है शुरू कैसे करूँ। कहानी में एक कथानक होना चाहिए न ? कथानक अर्थात क्रमबद्ध घटनाएँ। लेकिन क्या जीवन में क्रमबद्धता होती है। अक्सर क्या जीवन में यह अनुभव नहीं होता कि यह

जो व्यक्ति आज मिला है, यह जो घटना आज हुई है..................यह बहुत पहले क्यों नहीं हुई। ग़लत क्रम में और लोग, और घटनाएँ, और ममताएँ आकर जीवन को अनचाहा मोड़ क्यों दे गयीं? होती है न यह भावना? तो सब तो यह उलटा पुलटा क्रम चलता है। और घटनाओं के नाम पर जीवन में कुल मिला कर दो तीन घटनाएँ ही होती हैं, बस वे भी इतनी संक्षिप्त। किसी के मुँह से एक वाक्य निकल जाना, किसी की कोई मुद्रा अकस्मात मन में बस जाना......और उसके बाद कोई घटना न घटित होना.........जीवन निरर्थक क्रियाओं की एक रसहीन निष्फल श्रृंखला मात्र रह जाता है। सो घटना और कथानक तो यूं ही गये।

अब रहे पात्र और उनका चित्रण। सो उनका विश्लेषण तो दूर मैं तो आज तक किसी से परिचित नहीं हो पाया। वे जो निकट होते हैं न, अकस्मात किसी क्षण में ऐसे लगने लगते हैं गोया सदा सर्वदा के अपरिचित हों। इन्हें प्रथम बार हम देख रहे हैं। फिर हमारी बातचीत कितनी निस्सार होती है। हम अक्सर वह नहीं कह पाते जो हम कहना चाहते हैं, अकसर जानते ही नहीं कि हम क्या कहना चाहते हैं? और जानते भी हैं तो ग़लत मौके पर कह डालते हैं, अक्सर ग़लत लोगों से कह डालते हैं। तो आप देखती हैं कि कहानी के जो भी उपकरण हैं, कथानक, पात्र, भाषा...............सब के सब तो अनुपयोगी सिद्ध हुये, कहानी लिखूं कैसे।

अब आपके इस अमूल्य पेन से ही कहूँगा......कि भाई मैं तो हार चला, तुम्हीं उपाय निकालो। और जब वह उपाय निकाल लेगा............तब जो भी रचूँगा........उसका श्रेय मुझे नहीं आपके इस पेन को होगा।

अच्छा अब कुछ फुरसत में हूँ उम्मीद है आपका पत्र मिलेगा तो उत्तर देने में उतनी देर न होगी। आप बड़ी हैं...इसलिए मेरे विनम्र प्रणाम।

▲

पहला खत लिख कर रख दिया और सोचा कल छोड़ूँगा। कल इतवार पड़ गया। कल यानी इतवार की रात, कुछ बादल थे, चाँद लगभग पूरा था और इधर की धूप से मेरे तमाम पौधे सूख रहे थे, दिन म ठीक से पानी आता नहीं, अतः रात को दो बजे तक जगकर गुलाबों की क्यारी में बेले में, अलमंडा में, और

जही में ट्यूब से पानी देता रहा। क० .....सो गयी थी, और कटहल की टहनियों मे, पत्तों को वड़ी मुश्किल से भेदती हुई चांद की एक किरण क०......के बेसुध अस्तव्यस्त बदन पर बड़ी सी सफेद तितली की तरह पंख फैला कर बैठी हुई थी। चारों तरफ गहरा सन्नाटा था। सिर्फ खामोश खिले हुये फूलों के बीच कभी-कभी ट्यूब के पानी का कल-कल सुनाई देने लगता था और फिर वह बन्द हो जाता था और क्यारी में निश्शब्द मौन पानी बहने लगता था ....

...............पता नहीं और लोगों को ऐसे समय में कैसा लगता है, पर अक्सर मेरा मन ऐसे क्षणों में एक अकारण गहरी उदासी से भर आता है, लगता है कुछ चला गया है जो अब कभी ... लौट कर नहीं आयेगा। वह "कुछ" क्या है मैं चुपचाप सोचता रहा। चांद थोड़ा और ऊपर उठ आया था और असीम नीले चँदोवे में एक बड़े से मोती की तरह टँक गया था। वह कुछ क्या है जो खो गया है..............यह मैं सोचता रहा और क्यारी में बहते हुए पानी में उँगलियाँ डुबो-डुबो कर कभी होठों और कभी पलकों पर लगाता रहा।......................................मैं उसको नाम नहीं दे पा रहा था पर मन में कोई सोई हुई व्यथा रह रह कर टीस रही थी........... और वह किसी व्यक्ति, किसी घटना, किसी एक चीज से संबन्धित नहीं थी उसके पीछे एक समूची जीवन-दृष्टि के टूट जाने का विषाद था। मुझे धीरे-धीरे याद आया कि आज से ७-८ वर्ष पूर्व ऐसे क्षणों में यह चाँद, यह सूनापन, यह अलस सौन्दर्य, यह अपरिचित अतृप्ति.........सबकी सब लगती थी कि शाश्वत है, बहुत सार्थक है, इनको जब कभी एकान्त क्षणों में पाता था तो रस में डूब-डूब जाता था और लगता था कि जो पाया है वह अमूल्य है, सबके लिए अमूल्य होगा, इस मधुर अनुभूति को शब्दों में उतार दूँगा, सभी के लिए यह एक विलक्षण उपलब्धि होगी। ...पर अब लगता है यह सब शाश्वत नहीं है, इसमें कोई अर्थ भी नहीं और इनको पाकर चाहे मैं रस में डूब-डूब जाता होऊँ पर दूसरों के लिए इसका कोई महत्व नहीं है। वस्तुतः यह सारा जीवन रसमय अनुभूतियों की सार्थक शृंखला न होकर असम्बद्ध क्षणों की भँवर है, जिसकी कोई दिशा नहीं। लहरें वर्तुलाकार बहती हैं, तेजी से चक्कर काटती हैं और जो उनमें सूखे पत्तों, तिनकों, कागज के टुकड़ों की तरह फँस जाता है—नीचे डूब जाता है। और हम सब के सब इसी विराट करण-प्रक्रिया में उलझ गये हैं और हममें से कोई उससे मुक्त नहीं है। हम समझते हैं कि कभी हम पूर्व की ओर बह रहे हैं, कभी पश्चिम की ओर बह रहे हैं...... ....और इस भ्रम में अपने को भुलाये रखते हैं। वस्तुतः हम न पूर्व की ओर बहते हैं, न पश्चिम, न उत्तर, न दक्षिण, हम केवल नीचे डूबते जाते हैं ....

नीचे और नीचे ! लगता है अपनी ज़िंदगी एक महावृक्ष है जिसमें पतझड़ आ गया है और एक-एक कर सारे क्षण पत्तियों की तरह झड़ते जा रहे हैं और नयी कोंपलें कभी नहीं आयेंगी क्योंकि नीचे से दीमकों ने तने तक पर पपड़ियाँ डाल रक्खी हैं ………… …………और ऐसी हालत में अक्सर सोचता हूँ कि मैंने कहानियाँ क्यों नहीं लिखीं तो पाता हूँ कि जीवन की एक झलक, एक घटना, एक बात पर कहानी लिखी जाती है, पर तब जब उस झलक, उस घटना, उस बात के पीछे कोई क्रम, कोई व्यवस्था, कोई स्थायी अर्थ, कोई बड़ी बात हो। पर अक्सर लगता है इस क्षण बहुत बड़ी लगने वाली बात कल बहुत छोटी लग सकती है, निरर्थक, सारहीन, सूनी, रिक्त। आज मन को दबोच देने वाली घटना कल रबर के खाली गुब्बारे सी हास्यास्पद लग सकती है तो—तुरन्त सोचता हूँ कि इसकी कहानी क्यों कहूँ, किसके प्रति कहूँ, उस बात को नदी के प्रवाह में ही डाल देता हूँ और उसको खिन्न मन हिलते डुलते बह जाते हुए देखता हूँ। इनका महत्व औरों के लिए तो है ही नहीं· · मेरे लिए भी पता नहीं है या नहीं ?

पता नहीं मैं अपनी बात ठीक से कह पा रहा हूँ या नहीं, पर उम्मीद है आपको इससे आभास हो गया होगा कि वह "कुछ" क्या है जो पहले था अब नहीं है जिसके कारण पहले मैं उमंग से कहानियाँ लिखता था और अब टाल जाता हूँ।

…………………………………………………………………………

…………मैंने अपने को तार-तार अलग कर रेशे-रेशे निकाल कर जाँचा है और एक बात पायी है कि मन की हर चीज़ को अपने में सार्थकता नहीं मिलती· · · जब हम किसी को ममता देते हैं, स्नेह देते हैं, तो अकस्मात मन का कोना-कोना आलोकित हो उठता है, जगमगा उठता है, अन्धेरे में विरूप और निरर्थक लगने वाली हर चीज़ का एक सुनिश्चित आकार दीखने लगता है, उसकी संगति बैठने लगती है।……………………यह बात पायी है· · यह कहना ग़लत होगा· · यह बात कभी पायी थी, पर ज्यों-ज्यों वक्त बीतता गया और समय का अनवरत प्रवाह जीवन की अनुभूतियों, घटनाओं पर से बहता गया तो एक बात मैंने और पायी। मुझे लगा कि यह बिलकुल झूठ बात है कि हम दूसरों के मन को अपने मन से जोड़ कर उसे सार्थकता प्रदान करते हैं। वस्तुतः दूसरे का मन शीशे के ग्लोब में बन्द जापानी फूल की तरह होता है जिसे हम शीशे के पार से देखते तो हैं पर उस तक पहुँचने का, उसे छूने का कोई तरीका नहीं। उस बन्द ग्लोब के चारों ओर हमारा मन उड़ता है, अपने पंखों को बार-बार शीशे की पारदर्शी दीवारों पर पटकता है, थक-थक कर घायल हो हो कर गिर पड़ता है, फिर उठता है फिर यही करता है, फिर घायल होकर गिरता है, यहाँ तक कि एक दिन वे पंख भी

खो देना है। हर आदमी कहीं न कहीं अपने में आबद्ध है—बिलकुल............ दुनियाँ की कोई भाषा नहीं जो पृथक व्यक्तियों के निगूढ़तम मर्म के बीच वास्तविक सेतु का काम कर सके। कोई भी एक दूसरे के सामने बेलौस, मुक्त, निर्व्याज रूप से खुल नहीं पाता...........खुल सकता ही नहीं..............................

...........फिर लगता है कि कहानी क्यों कही जाय ? हमें मालूम ही क्या है जो हम बतायेंगे..............कहानी सिर्फ़ एक है—सिर्फ़ एक.....................वह यह कि हम कुछ नहीं जानते और जान पायेंगे भी नहीं और यह पीड़ा इतनी गहरी होती है, कुछ भी न जानने की पीड़ा कि उस पर चुप रह जाना ही अच्छा है।

यूं एक उम्र होती है जब हम कुछ भी नहीं जानते और तब अपने मन से हर चीज़ पर अपने अर्थ, अपनी कल्पना, अपने अनुमान आरोपित किया करते हैं और अपनी एक ख्याली दुनियाँ में रहते हैं और वह उम्र होती है जब हम कहानियाँ बनते हैं, जीते हैं, कहते हैं, और उस समय हम वास्तविकता जानते नहीं, उन्हीं कहानियों को ही हकीक़त समझते हैं, पर धीरे धीरे वह 'कुछ' खो जाता है......तब हम जानते हैं कि अरे यह तो कहानी है......गल्पमात्र..... और हम ठगे से, आहत से रह जाते हैं......और एक दिन फिर उसी को भुलाने की कोशिश शुरू कर देते हैं और कहानियाँ कहने में कोई दिलचस्पी नहीं रहती क्योंकि हम अपने मन में खुद कहानी को मात्र कहानी......मात्र गल्प समझते हैं.....जानते हैं कि हकीक़त कुछ और है, पर क्या यह नहीं मालूम ! कहानी कहने वाला तो उस बच्चे की तरह है जो घर आकर यह बताता है कि कैसे स्कूल से लौटते समय उसे चौराहे पर एक भेड़िया मिला था, लैम्प-पोस्ट के नीचे एक दैत्य बैठा था और वह बड़े उत्साह से सब बताता जाता है क्योंकि उसे रत्ती भर इस बात का अन्दाज़ नहीं होता कि वह झूठ बोल रहा है, वह अपने मन में सब बातों को, उन कल्पना के भेड़ियों, दैत्यों, परियों और फ़रिश्तों को उतना ही सच मानता है जितने अपने पोथी बस्ता, स्लेट-पेंसिल को.....इसीलिए उनकी कहानी यथार्थ और तर्कसंगत न होते हुये भी सजीव होती है, रोचक होती है......पर एक दिन मन का सहज सरल विश्वास सिर्फ़ बचपना साबित होने लगता है और हम पर यथार्थ उदित होने लगता है, कहानी खोने लगती है......

बात यह है कि अगर आलोचकों की भाषा में बोलना हो तो उसे बड़ी-बड़ी संज्ञा देंगे, बड़े बड़े शब्द इस्तमाल करेंगे......जिनके उच्चारण मात्र से

पाठक बिलकुल आतंकित हो जाय पर ईमान की सीधी साधी बात यह है कि कहानीकार झूठ बोलता है और झूठ बोलते समय दुनिया को यक़ीन दिलाये या नहीं कि यह बिलकुल सच है पर अपने को पूरी तरह यक़ीन दिलाता है, इस तरह बात कहता है कि गोया उसने यह सब जिया है, (ठीक उस बच्चे की तरह जो कल्पित भेड़िये की बात करते समय थर्रा उठता है, भय से उसके होंठ काँप उठते हैं, हाथ पाँव ठण्डे पड़ने लगते हैं) और आपको सच बताऊँ कि यह विश्वास नामक चीज़ तो बिल्कुल छुतहा रोग है, उड़कर लगता है·········लेखक अपने झूठ पर इस गहराई से विश्वास करता है कि पाठक को यह विश्वास उड़कर लगता है।·········पर मैंने कहा न कि मेरी दिक्क़त यह है कि मैं खुद अपने झूठ को पकड़ लेता हूँ फिर असमंजस में पड़ जाता हूँ कि इस पर विश्वास करके मैं और किसी को बाद में, पहले तो अपने को ही छलूंगा, अपने साथ कपट करूँगा और फिर मैं चुप रह जाता हूँ·········एक छोटी सी बात लें। मैंने एक कहानी लिखी, 'गुलकी बन्नो'। आपने 'निकष' का पहला अंक देखा था, उसी में थी। यथार्थ और सामाजिक यथार्थ पर जान देने वाले आलोचकों ने उस पर काफ़ी शोर मचाया······तारीफ़ों के पुल बाँधे। पर मैं सोचने लगा कि सामान्य जीवन में जिस गुलकी को मैंने देखा था·····इस कहानी की गुलकी वही है क्या? ईमान की बात है—नहीं! फिर इस कहानी की गुलकी कहाँ से आई? यथार्थ में तो नहीं थी? या थी तो और किस्म की थी। और इसमें जिसने प्राण फूंके वह कौन सा तत्व था—मेरी कल्पना? अर्थात् अवास्तविक को वास्तविक जैसा चित्रित करने का चातुर्य और जो लोग कहते हैं कि जीवन के यथार्थ से न भाग कर कला यथार्थ को पूर्णतः ग्रहण करे·······वे इस कहानी से इसीलिए तो प्रसन्न थे कि उसमें बड़े विस्तार से यथार्थ की पच्चीकारी की गयी थी···झबरी कुतिया के बैठने से लेकर छोटे बच्चों के बर्रे उड़ाने तक की झलकियाँ बड़े विस्तार से दी गई थीं। पर क्या दुनियाँ भर की झलकियाँ बटोर कर बड़े विस्तार से बोला गया झूठ—सत्य बन जाता है? यदि नहीं तो वह चाहे जितना यथार्थ का आभास दे पर अन्ततोगत्वा कहानी तो एक झूठ हुई न? और फिर इसी तरह ध्यान आता है कि "गुनाहों के देवता" के चन्दर, सुधा, पम्मी, बिनती, बर्टी—और "सूरज का सातवाँ घोड़ा" के मानिक, तन्ना, महेसर ये सब के सब चाहे जितना यथार्थ का आभास दें पर हैं तो सब कल्पना की सृष्टियाँ। और बैठ बैठ कर एक दूसरी दुनिया गढ़ने से लाभ? आज इसकी ज़रूरत क्या है? आज तो व्यावहारिकता की मांग है। स्वतः हम सबों का एक अंश इस व्यावहारिकता की माँग का पूर्णतः समर्थन करता है। अगर व्यावहारिकता को न ग्रहण कर इन कला सृष्टियों में विश्वास करने लगेंगे तो हमारा हाल आगे या

पीछे उसी बहादुर डान क्विक्ज़ोट की तरह हो जायेगा जिसने अगणित उपन्यास पढ़े थे और जो उपन्यास के दैत्यों और राजकुमारियों को सत्य मानकर घर से निकल पड़ा था और किस प्रकार वह दयनीय, उपहास का पात्र मात्र बन कर रह गया था, यह तो आपने पढ़ा ही होगा।···· ····ऐसा लगता है कि आज सारे युग का परिवेश, प्रतीतियाँ, वातावरण और टैम्प्रेचर कला-सृजन के लिये अनुकूल नहीं हैं। यह नहीं कि कला-सृजन हो नहीं रहा, उच्चकोटि का नहीं हो रहा पर लगता है कि कहीं न कहीं उच्चतम कला-सृजन की और इस मूल्यहीन, कला कल्पनाहीन, व्यवहारिक ज़माने की चूल बैठ नहीं पा रही है।············ ···········पर जाने दीजिए सारे ज़माने का ठीका मैंने नहीं ले रक्खा और अपनी हर सीमा को युग की सीमा साबित कर दूँ न इतना चातुर्य है मुझमें और न इतना दम्भ······मेरी अपनी सीमाएँ हैं और अपने असमंजस। और उन्हीं के कारण मुझे यह लगता है कि कहानी किसकी कहूँ······इस दुनियाँ का हर गतिशील परिमाणु, हर व्यक्ति अपने में आबद्ध तत्व है, उसका मर्म कभी नहीं खुलेगा, किसी के सामने नहीं खुलेगा········वह सदा अनजाना, अपरिचित रह जायेगा।······

मन फिर भी बार बार उगमता है और शीशे की पारदर्शी किन्तु अभेद्य दीवारों से पंख टकरा टकरा कर थक कर नीचे गिर पड़ता है। और फिर एक पीड़ाजनक तथ्य उदित होता है कि झूठ या सत्य, पूर्ण या एकांगी, जो भी हमें दीख रहा है इसका भी शाश्वत अस्तित्व नहीं, इसका भी सदा टिकने वाला अर्थ नहीं और यह जो नदी के किनारे रेत पर थकी क्लान्त लड़की हाथ में लाल कनेर लिए चली आ रही है, कौन जाने यह मात्र मृगतृष्णा हो; जलती हुई रेत की ताप-प्रक्रिया से बना हुआ एक झूठा छायाचित्र·········और यह जो अन्धेरे में एक लालटेन वाली नाव चली जा रही है, कौन जाने यह है भी या नहीं·········या केवल दलदल में फ़ासफ़ोरस की प्रक्रिया से चमक उठने वाली छल-ज्योति हो जो निगाहों के आगे तैर कर लालटेन वाली नाव का आभास दे गयी है।

और जब यह बात मन में आती है तो अकस्मात जैसे घनी पीड़ा मन को बुरी तरह आक्रान्त कर जाती है, लगता है सब टूट गया, सब नष्ट हो गया, केवल जलती हुई रेत का किरकिरा स्वाद आँसू से भींगे होठों पर और थमे हुए पानी पर जमा हुआ अभेद्य, गाढ़ा काला अँधेरा·····जो कभी नहीं जायेगा—कभी नहीं जायेगा··············और फिर एक व्याख्याहीन व्यथा से मन घिर

जाता है, खामोश, सूना और बेबस.......... और रह जाता है केवल कटहल से खिसककर इमली की छितरी टहनियों में बेहोश लटका हुआ चाँद......जो उज्ज्वल लगता हुआ भी निष्प्राण लगता है और क्यारी में खामोश बहता हुआ पानी जिसमें मेरी अनमनी उँगलियाँ भटक रही हैं और सोचता हूँ इस क्यारी में बहती हुई पानी की क्षीण दुर्बलधार, क्या यही वह अनन्त सागर है जो प्रलय के बाद लहराता है। मैं जानता हूँ कि धूल का कण कण अभी आधे घण्टे में इस समस्त जलराशि को पी जायेगा। और चारों ओर एक गहरी खामोशी है। चाँदनी अस्पताल की पट्टियों की तरह सफेद और वाताव ण ऑपरेशन के कमरे की तरह निस्तब्ध, विशाद, कुतूहल, भय और मृत्यु के मिले जुले स्वाद वाला....................मैं अब दोनों कहानियाँ कैसे लिखूँ। कहाँ गये लाल कनेर के फूल और कहाँ गयी लालटेन वाली नाव ? यहाँ तो सिर्फ़ रात के ढलते पहर की चटक चाँदनी है और खामोशी है और अथाह अकेलापन है और मैं हूँ।

डेड सी के तट पर

मुझे आज कल रोज़ रोज़ याद दिलाई जाती है कि मैंने अभी तक तुम्हें न कोई कहानी भेजी है न कोई कविता और न कोई ठीकठाक सा ख़त ही—पर मेरा स्वास्थ्य, क० की बीमारी और यहाँ का भयावना मौसम कोई काम नहीं करने दे रहा है—इसलिये कोई भी नयी कहानी, कविता नहीं लिख पाया और न कभी लिखने का मूड बन पाता है। धर कुछ पढ़ने का भी जी नहीं हो रहा है। उस दिन गया अर्नस्ट हेमिंग्वे की एक पुस्तक लाया अफ्रीका के जंगलों पर लिखी हुई। दो घन्टे में आधी पढ़कर रख दी। जी ऊब गया। फिर सोचा कुछ ऐसे उपन्यास पढ़े जाँय जो पहले बहुत अच्छे लगे हैं। ग्राहमग्रीन का एक उपन्यास मुझे और फादर एक्स० को बहुत पसन्द था। उसे पढ़ना शुरू किया। दो एक अध्याय पढ़े पर फिर वह भी नहीं चला। कल सुबह से एक किताब बहुत याद आ रही थी—ए पेयर आफ ब्लू आइज़——टामस हार्डी। पर वह मेरे पास थी ही नहीं। आठ बजते ही 'द बुक्स' गया। वहाँ खड़े खड़े उलटा पलटा। पर जिन दृश्यों ने सात साल पहले रुला दिया था वे आज अत्यन्त कृत्रिम और बनावटी लगने लगे। सोचा इसे पढ़ कर जो पिछला जायका बसा हुआ है मन में, इस उपन्यास का, उसे क्यों बिगाड़ा जाय।

बेहद थकान, बेहद क्लांति और बेहद भारीपन महसूस हो रहा था और मैंने 'लाइफ आफ़ क्राइस्ट' उठाई। मार्था और मेरी वाला अध्याय—और उससे

अकस्मात वह चित्र याद आ गया जो तुमने भी गिरजे मे एक बार देखा था। वह जहाँ ईसा को सूली से उतार कर लाया गया है और तीन मेरी— मेरी मैगदालेन, वर्जिन मेरी और लजारस वाली ईसा की मुहं बोली बहन मेरी उसके शव के पास है। और उसके बाद पुस्तक मैंने बन्द कर दी और ऐसा लगा कि मृत्यु की वह भावना मेरे मन में ऐसी बस गई है कि मैं कह नही सकता।

तीन चार बरस पहले मुझे उपनिषद अच्छे लगते थे और मैं सुबह उठकर उनका पाठ करता था। उनमे बार बार मृत्यु के प्रति जिज्ञासा है, मृत्यु की व्याख्या है मृत्यु का मर्म समझने की कोशिश की गई है। बहुत आशावादी है उनका स्वर, और उन्होंने मृत्यु की प्रक्रिया का सारा खेद हर कर उसे भी आनन्दप्रद बनाने की चेष्टा की है! पर अब मुझे वह दृष्टिकोण नहीं भाता। इधर अकसर मैं मृत्यु के बारे मे बिलकुल बौद्धों की भांति सोचता रहा हूँ। जीवन एक चेतना-प्रवाह है जो अकस्मात झटके से टूट जाता है। जैसे अन्धेरे मे ज्योतिशिखा अकस्मात जल उठे और फिर एक फूंक से जल कर विलीन हो जाय वैसा ही है मेरा अस्तित्व। मृत्यु में न कोई अवसाद न आनन्द। तुम्हें मालूम है इतने तटस्थ रूप से मैं क्यों सोच पाता हूँ ? सच मानों, ऐसा लगता है जैसे मैं अपनी मृत्यु के बारे में नहीं सोच रहा—वह कोई और है—कोई भारती नाम का व्यक्ति जिसका मेरा दूर का परिचय है— :

और कल से एक और अजीब बात सोच रहा हूँ—मृत्यु शायद किसी एक अमंगल क्षण मे घटित होने वाली बिभीषिका नहीं है। वह एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। कहीं न कहीं, हमारा कोई न कोई अंश प्रतिक्षण मरता रहता है। कभी कभी क्या ऐसा नहीं लगता कि ५ साल पहले किसी एक व्यक्ति, किसी एक आदर्श, किसी एक भावना को, हमारे जिस व्यक्तित्व ने बेहद प्यार किया था, अपने को उत्सर्ग कर दिया था, आज वह हमारा व्यक्तित्व मर चुका है। पर कभी कभी इसके बिलकुल विपरीत बात भी लगती है। हमारे व्यक्तित्व का कोई भी अंश कभी भी नहीं मरता। जाने कहाँ बीज की तरह परत दर परत जमीन के अन्दर दबा रहता है। मौक़ा पाकर अकस्मात उसमें जीवन का संचार हो उठता है, हरियाली दौड़ आती है।

सच्चाई कहाँ है मैं आज तक नहीं समझ पाया ? मैं उस मृत्यु की चिन्ता नहीं करता जो अकस्मात झटके से सांसों की डोर को तोड़ देगी। मैं उस मृत्यु के बारे में अक्सर सोचता हूँ जो क्षण क्षण घटित हो रही है—हममें, तुममें सबमें।

वह किन क्षणों को, किन स्मृतियों को, किन पवित्रताओं को कब कण कण कर रीत डालेगी—इसका कुछ पता नहीं। और जब सब रीत जायगा तब क्या बचेगा? इस शरीर में भोगे हुये जीवन की अवसादपूर्ण थकान, और झूठे समझौतों और सान्त्वनाओं की एक कटुता मात्र।

वैष्णवों ने भी इस समस्या का अनुभव किया था। तुमने तो पढ़ा होगा कि वे मानते थे कि ये सारी ममतायें, स्नेह, काम, क्रोध, अभिमान तक परिशोधित हो जाते थे यदि ये कृष्णार्पण कर दिये जांय। फिर ये मरते नहीं थे—कबीर ने लिखा है न—"हम न मरैं मरिहैं संसारा, अब मोहि मिला जियावनहारा।" पर वे किसी मानवोपरि सत्ता ईश्वर में विश्वास करते थे। इसलिए उनका सारा मानवीय प्रेम राग, मोह सभी उसी प्रभु को अर्पित था और वे मानते थे कि वे क्षण उल्लास, वे विश्वास, वे प्रेम जो कृष्णार्पित हैं, फिर मरते नहीं।

मेरा संकट यह है, कि आज मुझे लगता है कि यह उनकी मन समझाने की बात थी क्योंकि या तो प्रभु है नहीं या है भी तो उनको इसकी कोई चिन्ता नहीं कि मनुष्यों को क्या होता है क्या नहीं? न वे किसी का समर्पण स्वीकार करते हैं न किसी को अमरत्व प्रदान करते हैं।

इसीलिए अक्सर मुझे ध्यान आता है कि यह जो चरम उल्लास, विश्वास, ममता, प्यार, आदर्श, उत्सर्ग का क्षण हम भी जी रहे हैं, वह कल मर गया तो? और जैसे तैसे एक तुम्हारे मन में जीवित रहा······पर दूसरों के मन में मर गया तो?

इसीलिये मैंने उस लम्बे वाले पत्र में अन्त में लिखा था कि कौन जाने लाल कनेर का गुच्छा लेकर आने वाला सिर्फ मृगजल साबित हो और, अन्धेरे में जाती हुई लालटेनवाली नाव सिर्फ एक छलावा मात्र हो और इसीलिये ऐसे क्षणों में मैंने अक्सर अनुभव किया है कि समस्त सृष्टि में मैं बिल्कुल अकेला हूँ········इतना ही नहीं, कभी कभी तो यह लगता है कि मैं भी जाने हूँ या नहीं या मेरा अस्तित्व भी एक प्रत्याभास मात्र है। पहाड़ों पर अक्सर चरवाहे खूब जोर से गीत की एक कड़ी गाते ह और गाकर चुप हो जाते हैं पर उसके बाद एक गूँज उसकी बड़ी देर तक घाटियों में सिसकती रहती है। वह गूँज गीत नहीं होती, गीत तो कब का बन्द हो चुका होता है—गूँज एक अवास्तविक प्रत्याभास मात्र होती है। वैसे भी लगता है कि मैं किसी ऐसे निर्जन पहाड़ी

संगीत की ध्वनि हूँ जो कब का समाप्त हो चुका है—केवल उसकी गूंज अनगूंज हूँ मैं जो ऊबड़ खाबड़ घाटियों से टकरा टकरा कर बार बार अपने को दोहरा रहा हूँ और धीरे धीरे मिटती हुई क्षीण ध्वनि की तरह चीड़ के जंगलों में खो जाऊँगा ।

आज से वर्षों पहले मैंने अपनी डायरी में ब्राउनिंग की एक कविता उतारी थी—बहुत मशहूर कविता है वह—"Prospice" । मृत्यु पर ही है वह कविता—पर उसमें एक अदम्य विश्वास था। कविता का भावार्थ संक्षेप में यूँ था :—

मृत्यु से भय ?—कण्ठ में घुटता हुआ कोहरा
  और चेहरे पर धुँधली छायाएँ महसूस करना !
जब हिमपात प्रारम्भ हो जाय और झंझाओं का गर्जन सूचित करे
  कि हम उस स्थान के निकट आ रहे हैं

रात की प्रगाढ़ता, तूफान का आवेग
  और शत्रु जहाँ खड़ा है
शत्रु, साकार सदेह भय······

  मगर जो शक्तिशाली है वह जायेगा, रुकेगा नहीं
क्योंकि सफ़र खत्म हो रहा है, चढ़ाई खत्म हो रही है
  अवरोध समाप्त हैं

यद्यपि अभी एक आखीरी युद्ध बाकी है—
  पर कोई बात नहीं
मैं योद्धा रहा हूँ—अतः एक युद्ध और—
  सबसे खूँखार और सबसे आखीरी !

मैं नहीं चाहता कि मैं आँख पर पट्टी बाँधकर
  काँपते, रेंगते हुए जाऊँ
न ! मैं उसे सम्पूर्णतः जानूँगा, निर्बंध,

सब सहूँगा—जीवन के सुखों का मूल्य चुकाऊँगा

दर्द से, अन्धेरे से, सर्वदिली से—
क्योंकि अकस्मात् साहसी के लिये, सब बदल जाता है

काला क्षण तत्क्षण समाप्त हो जाता है
और प्रकृति का उत्पात और चीत्कार करती हुई प्रेत-ध्वनियाँ
जर्जर पड़ती ह, घुलमिल जाती हैं
फिर बदल जाती हैं—दर्द से उभरती हुई एक शान्ति में

फिर एक ज्योति और फिर तुम्हारा कोमल वक्ष—

ओ मेरी आत्मा की आत्मा ! मैं तुम्हें फिर बाहों में समेट लूँगा
और फिर हम प्रभु मे निमज्जित हो जायेंगे
सब कुछ उन्हीं के हाथों में छोड़ कर !

ब्राउनिंग की यह कविता मुझे बेहद पसन्द थी—तब मृत्यु की भावना भी मुझे एक नये संघर्ष की प्रेरक भावना लगती थी। पर धीरे-धीरे पता नहीं क्यों वह अदम्य विश्वास टूटता सा गया।

ब्राउनिंग की कई कवितायें अच्छी लगने का एक कारण था जो अब नहीं रहा। इस बार किसी मे तुम्हारी भेंट हुई थी न ! मेरी एक कविता की एक पंक्ति क्या उसे देख कर तुम्हें याद नहीं आई····

'वही झुकी मुँदी पलक सीपी में खाता हुआ पछाड़
बेजबान समन्दर !'

······तो ब्राउनिंग की एक कविता थी—जो मुझे बेहद अच्छी लगती थी और जिसे मैंने पहली बार उससे सुना था। और तब मुझे पहली बार यह आभास हुआ था कि गहनतम ममता में कैसे शरीर और आत्मा, दिव्य और भौतिक, लौकिक और पारलौकिक बिलकुल घुलामिला रहता है······वह कविता है—A Woman's last word, जिसमें एक स्त्री के भावनात्मक समपर्ण का चरम क्षण दिखाया गया है—वह कहती है :—

Let's, contend no more, Love,
Strive nor weep :
All be as before, Love,
—Only sleep !

Be a god and hold me
With a charm !
Be a man and fold me
With thine arm !

Teach me only teach, Love !
As I ought
I will speak thy speech, Love,
Think thy thought—

Meet if thou require it,
Both demands,
Laying flesh and spirit
In thy hands.

—Must a little weep, Love,
(Foolish me !)
And so fall asleep, Love,
Loved by thee.

इस कविता के दूसरे पद का एक बहुत अच्छा रूपान्तरण मुझे—अज्ञेय की प्रारम्भिक काव्य-पुस्तिका 'चिन्ता' में मिला था—

"ईश्वर बनकर मन्त्रशक्ति से छू दे मेरा भाल
मात्र पुरुष रह, भुजबन्धन से मर्माहत कर डाल !"

पर यह सब केवल प्रारम्भिक प्रतीति थी। इसके बाद मैंने और जाना.... और जो जाना वह यह था कि समर्पण के किसी एक स्तर पर हमारा सारा भौतिक जीवन केवल एक प्रतीक मात्र रह जाता है, हमारे आत्मिक जीवन का। हमारे प्यार, हमारी ममताएं, हमारे सम्बन्ध, हमारी कामनाएं......उन सबको बहुत गहरा नया अर्थ मिल जाता है और वह अर्थ शारीरिक नहीं होता —वह शरीर से बहुत ऊपर उठा हुआ होता है। और उस स्तर पर शरीर या तो केवल माध्यम होता है या कभी होता ही नहीं, शरीर की चेतना भी हममें नहीं रह जाती, हम सिर्फ भावना मात्र रह जाते हैं, एक दिवास्वप्न, एक अदृश्य-संगीत, एक अशरीरी समर्पण।

यह सब मैंने पाया था, अनुभव किया था, बरसों पहले और उन दिनों मन मे एक अदम्य विश्वास था—मृत्यु के प्रति भी··· ·

लेकिन ज्यों ज्यों दिन बीतते गये एक दूसरा कटु सत्य भी उदित हुआ। यह भी·····यह भी मरणशील है। इस भावना की भी मृत्यु संभव है। और मैंने देखा है····धीरे धीरे समय के गुजरने के साथ इस भावना को मरते हुए। उन झुकी मुंदी पलक सीपियों में आज भी समन्दर लहराता है, पर उसमें सब कुछ मर चुका है, मूंगे के हरे भरे द्वीप मर चुके हैं। फेनोज्ज्वल उत्ताल लहरें, लहरों की ढलान में बहती हुई चन्द्रमा की मोतिया छायाएँ, झूमती हुई नमकीन समुद्री हवा, सब कुछ मर चुका है। वह एक मुर्दा समुद्र है—

और मैंने अनुभव किया है कि जब चीजें मरने लगती हैं तो सिर्फ यही होता है कि उनके गहरे अर्थ खोने लग जाते हैं वह केवल अर्थहीन छिछली बेजान सी होकर रह जाती है। कितना उल्टा है यह चित्र ब्राउनिंग के दिये हुए चित्र से जहाँ अन्धेरा, उलझन, पीड़ा, धुंध सब कुछ पहले एक शान्ति में बदल जाता है—फिर एक ज्योति में और फिर तुम्हारे कोमल वक्ष में।

लेकिन मैं यहाँ अपने को पाता हूँ एक मुर्दा समुद्र के किनारे अकेले खड़ा—क्रमिक मृत्यु के सामने—मृत्यु जो क्षण क्षण घुन की तरह हमको अन्दर से खा रही है। लगता है एक अन्धा प्रवाह है—दिशाहीन और हम विवश बह रहे हैं··· तुमने पुष्टिमार्ग के बारे में पढ़ा है न, निरोध का सिद्धान्त। सभी इस प्रवाह में बहे जा रहे हैं, पर भक्तजनों को प्रभु जल में अँजुली डालकर निरुद्ध कर लेते हैं, फूल की भाँति। मैं जानता हूँ कि अब कोई अँजुली नहीं जो मुझे निरुद्ध कर सके। कोई नहीं क्यों कि मैं तो प्रवाह में बहता हुआ फूल भी नहीं हूँ—मैं तो तट पर छूटी हुई सूखी रेत हूँ। वह सूखी रेत किसी की भी अँजुली में कब तक रुकूँगा चाहे वह प्रभु की भी अँजुली क्यों न हो। कभी तुमने नदी किनारे बालू का खेल खेला है—सूखी महीन रेत अँजुली में भरना कितना अच्छा लगता है पर ज्यों ज्यों मुट्ठी कसो—त्यों त्यों और भी तेजी से सूखी रेत के कण खिसकते जाते हैं। और क्या मैं बिलकुल उन्हीं रेत कणों सा नहीं हूँ—सभी की स्नेह भरी अँजुलियों से खिसककर धूल में मिलता हुआ।

कोई है जिसके लिए मैं बहुत छोटा हूँ......इतना छोटा कि वक्ष में छिपाकर आँचल में दुबका कर उसकी इच्छा होती है...........कि मुझे लेकर उड़ जाय;

कोई है जिसके लिए मैं इतना बड़ा हूँ, इतना महान हूँ कि उनकी इच्छा होती है कि श्रद्धा से विनत होकर......विश्वास से भर कर वह मुझे सब कुछ उत्सर्ग करदे; कोई है जिसके लिए मैं बराबर का हूँ, जिसकी कामना होती है कि मन का रेशा खोल कर अपने को मेरे समक्ष बिलकुल उन्मुक्त कर दे......................और मैं क्या हूँ......अपने समक्ष ? मालूम है ?

सिर्फ ऐसा व्यक्ति जो न बड़ा है न छोटा, जो हर क्षण अपनी मृत्यु का क्षण जी रहा है और जानती हो न तुम कि मृत्यु के क्षण में मनुष्य सबका अतिक्रमण कर जाता है .....आयु का, भावनाओं का, बन्धनों का........................ ....वह कुछ नहीं रह जाता।

ऐसा मैं हूँ...............बाकी सब जो हैं न ! मेरा अत्यन्त हँसमुख स्वभाव, मेरा लिखना-पढ़ना, मेरे फूल—पौधे, मेरे प्यार, मेरी ममताएं, सब आवरण हैं जिनसे मैं अपनी इस क्रमिक मृत्यु की आन्तरिक ट्रैजडी को बराबर ढाँके रहता हूँ......भूले रहता हूँ......सिर्फ कभी कभी वह मुझे एक दम आक्रान्त कर लेता है और उस क्षण में मैं विचित्र सा अग्राह्य, सुदूर हो जाता हूं। जैसा उस दिन सुहागी की रहस्यमय पहाड़ियों पर महाकाल के मंदिर में सायंकाल की आरती के समय हो गया था। (मैंने तुम्हें लिखा था न उस यात्रा का हाल !) पुजारी एक डमरू बजा रहा था और पहाड़ियों और घाटियों में फैला हुआ गाढ़ा घना अन्धेरा मुझे और दूर और दूर खींचे ले जा रहा था......पता नहीं कहाँ......

कभी कभी ऐसी स्थिति में जो सचमुच बड़े लोग होते हैं वे चल देते हैं तो आगे ही चलते चले जाते हैं......लौटते नहीं। मैं तो कमजोर हूँ न ? बेहद कमजोर, इसीलिए लौट आता हूँ वापस—इस क्षणिक मृत्यु और अगणित मृगतृष्णाओं के देश में। लौट आता हूँ इस डेड सी के तट पर——यह बेजबान मुर्दा समन्दर जो अब मुझे कुछ नहीं दे सकता——

आधी रात : रेल की सीटी

आधी रात । पता नहीं कैसे नींद उचट गई है । कमरे में घुटन महसूस होती है । जाने कैसी घुटन । ठंडी, नंगी छत पर, फैले फैले आसमान के नीचे बेमतलब टहलना । छज्जे के पार पीपल की खामोश टहनियाँ नीले आकाश के पर्दे पर काले छायाचित्रों की तरह खिंची हुई हैं । दूर दूर तक कोई आहट नहीं, कोई आवाज़ नहीं, ज़िन्दगी का कोई चिन्ह नहीं । कुत्ते भी नहीं भूक रहे हैं । मेरी हर पगचाप को जैसे अँधेरा निगल जाता है । एक गहरी, बहुत गहरी उदासी, बेमतलब, बिना बात ।

अकस्मात जैसे किसी मर्मान्तिक पीड़ा से रात हृदय फाड़ कर चीख उठी हो, वैसी ही एक आवाज़ तीर की तरह दूर से आती है; खामोशी को चीरते हुए । अँधेरा तिलमिला उठता है, जैसे घाव को रगड़ लग गई हो । वह आवाज़ है कहीं दूर पर गुज़रती हुई ट्रेन की एक तीखी पैनी सीटी की । जाने क्यों अँतड़ियों को मरोड़ देने की ताक़त इस आवाज़ में है । सीटी की यह आवाज़ आती है, फिर गूँजती है, फिर जैसे दिशा दिशा से टकराती है फिर चौगुनी, अठगुनी, सोलह-गुनी, दर्द के एक विशालकाय जाल की तरह रात के अथाह समुद्र को ढँक लेती है ।

जैसे आधीरात जाल फेंके जाने पर जल की सतह काँप उठती है, वैसे ही

रात का फैलाव, रात की खामोशी, रात का अँधियारा काँपने लगता है। नीम और पीपल की टहनियाँ जैसे स्लेट पर खिंची लाइनों की तरह पुंछने लगती है मन की आँखों के आगे टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से एक दूसरा चित्र उभर रहा है। रेलवे स्टेशन का लम्बा प्लेटफार्म, टीन से छाया हुआ। ट्रेन जा चुकी है। फेरी वाले दूसरे प्लेटफार्म पर चले गये हैं। सिर्फ एक बूढ़ा कुली कुछ असबाब उठा कर दूसरे दर्जे के वेटिंगरूम म रख रहा है। रेलवे के वेटिंगरूमों की बेंचें, आराम कुर्सियाँ, बीच की बड़ी खूँटियाँ, इनका एक खास ढंग होता है। वैसी ही बेंचें, वैसी ही कुर्सियाँ वैसी ही गोलमेज, वसी ही खूँटियाँ। असबाब एक कोने में लग गया है। मैं मेज पर पैर लटकाये बैठा हूँ। वह आरामकुर्सी पर अधलेटी है। मैं चुप। वह चुप। मैं उसकी बन्द आँखों को एक टक देख रहा हूँ। उसका सारा चेहरा सोनबरनी है पर पलकें गहरे भूरे गुलाब के रंग की हैं। उसका आधा सौंदर्य उसकी पलकों का सौंदर्य है। मैं अपने जेब में पड़े प्लेटफार्म टिकट को उलटता पलटता हूँ। मैं पहुँचाने आया था। गाड़ी छूट गयी थी। हम दोनों खीज गये थे। पर क्या वह खीज सतही नहीं थी? कहीं गहरे उतर कर हम दोनों को सन्तोष था। अगली गाड़ी के वक़्त तक अब हम साथ रह सकेंगे।

'अब?' सहसा वह आँख खोल कर पूछती है..फिर जवाब भी खुद देती है..'अब क्या? रात को दस बजे तक फुरसत। तब तक तो कोई गाड़ी जाती नहीं। खैर तुम्हारी मन चाही हुई। तुम्हें तो खुशी होगी। और सोचो कि घर पर सब लोग समझ रहे होंगे कि वह ट्रेन पर चली जा रही होगी। और यहाँ आराम से पाँव फैलाए वेटिंगरूम में लेटे हैं। घर कितनी दूर है? सिर्फ चार फलांग। मगर लगता है हम लोग दूसरे लोक में बैठे हों? क्यों?'

मैं कोई उत्तर नहीं देता। कोई सवाल भी तो हो। यह तो उसकी आदत है। या तो बोलेगी नहीं, बोलेगी तो एक साँस में एक पूरा पैराग्राफ।

''सुनो, चलो असबाब यहीं रख कर, घर लौट चलें। पहुँचा दोगे?"

"चलो!" मैं बेमन से कहता हूँ।

"अच्छा, जाने दो, फिर सब तवालत में पड़ेंगे। पर तुम छः घंटे करोगे क्या?' घूमने जाओगे। हो आओ।"

मैं कुछ कहता नहीं। वह समझ जाती है। "नहीं जी, मैं तुम्हें जाने दूँगी ? अकेले यहाँ करूँगी क्या ? जाने कैसे मिले हो तुम ? मैं बीस दिन से हूँ यहाँ पर। पर आज तुम्हें समय मिला है, वह भी ट्रेन न छूटती तो ?"

मैं सहमा बोलने लगता हूँ। नहीं, मैं नहीं बोल रहा हूँ। पता नहीं कहाँ से शब्द आ रहे हैं—

"सुनो। गाड़ी छोड़ कर हम लोगों ने जंजीर तोड़ दी समय की।"

"क्यों ?"

"और क्या ? असल म जिन्दगी के कामों का सिलसिला ही नहीं टूटता। तरतीब ही नहीं बिगड़ती। मैं हूँ कि हर क्षण बँधा हुआ हूँ। हर घड़ी भाग दौड़। यहाँ से वहाँ। तुम हो कि यहाँ थीं—यहाँ से स्टेशन, स्टेशन से ट्रेन पर, ट्रेन से दूसरे शहर, दूसरे शहर में दूसरे लोग, दूसरी जिन्दगी, दूसरी तरतीब। और आज ट्रेन छूट गयी। अकस्मात जैसे जिन्दगी की अनिवार्यता का क्रम टूट गया। वक़्त का बन्धन जैसे झटका खाकर टूट गया। लोग समझते हैं तुम ट्रेन में जा रही हो, उसके बाद घर, उसके बाद. . .और यह किसी को नहीं मालूम कि सहसा सिलसिला तोड़ कर बीच में हम वेटिंगरूम में पड़े हुए हैं". . .वह चुपचाप मेरी ओर देख रही है। पाँव आरामकुर्सी के हत्थे पर है। और उसकी हथेलियाँ मेरे पावों पर "और सुनो !" मैं कहता जाता हूँ, मेरी आवाज़ काँप रही है—"तुम्हें ऐसा नहीं लग रहा है कि इस समय तुम समय के अनवरत प्रवाह से बिल्कुल मुक्त हो, और लगता है जैसे पीछे कोई गुजरा हुआ अतीत नहीं है और आगे कोई अनिवार्य भविष्य नहीं है और सिर्फ वर्तमान है, और वह और वह बहुत सुखद है बहुत शान्त है।" वह कुछ कहती नहीं, मेरे पाँवों पर रक्खी अपनी उँगलियाँ उठा कर होठों से लगा लेती है।

वेटिंग रूम के दूसरी ओर मालगाड़ी खड़ी थी जो हट गयी है और पच्छिम की खिड़की से शाम की हल्की नारंगी धूप जाली पर छन छन कर उसके रूखे बालों पर पड़ रही है।

"सुनो," सहसा वह बोल पड़ती है—"तुम जन्मान्तर में विश्वास करते हो?"

"क्यों ?"

"जन्मान्तर में। यही कि हमारा यह जन्म, यह रूप, यह अस्तित्व ही सब कुछ नहीं है। हम पहले भी थे और आगे भी रहेंगे. .अच्छा सुनो कुछ खाने को निकालूँ। भूख तो बेहद लगी होगी। अपने घर भी नहीं गये। वहाँ से सीधे स्टेशन चले आये हो।"

"खाना ? उहुँ।" मैं मना करता हूँ। चाहता हूँ कि जन्मान्तर वाली बात वह फिर कहे। बड़ा सन्तोष होता है। हम पहले भी थे और आगे भी रहें...

अकस्मात घड़ घड़ करता हुआ एक शंटिंग इन्जन आता है और वेटिंग रूम के सामने रुक जाता है। धुँआ फेंक रहा है, ई० आई० नौ सौ. . , शायद सैंतीस; नम्बर ठीक याद नहीं।

"वेटिंग रूम में मन ऊबने लगा। चलो, बाहर प्लेटफार्म पर ही चक्कर लगा आयें।"

"चलो।" वह उठ खड़ी होती है।

एक खुला हुआ अन्तरीप जैसा प्लेटफार्म रेलवे लाइनों के समुद्र में दूर तक अन्दर चला गया है। बीचोबीच लैम्पपोस्ट, नल और सीमेंट की बेंचों की कतारें। बहुत लम्बा प्लेटफार्म। सूनसान। हम लोग चले जा रहे हैं। चुपचाप। उसने अपने कन्धों पर एक शाल डाल रक्खी है। कितनी बुजुर्ग लग रही है। लगता है हम लोग अन्तरिक्ष चीर कर भविष्य में धँसते जा रहे.. .गहरे, और गहरे, और गहरे। सहसा मेरी हथेलियों में उसकी नर्म लम्बी पतली उँगलियाँ उलझ जाती हैं। हम लोग हाथ पकड़ते नहीं। उँगलियाँ लताखंडों की तरह उलझी रहती हैं। एकाएक वह रुक जाती है। मैं भी रुक जाता हूँ। वह मेरी ओर देखती है, ममता, करुणा, विस्मय, अविश्वास—जाने क्या क्या घुला मिला है उन निगाहों में. . ."हम लोगों की क़िस्मत भी कितनी अजीब है ? है न ?"

'हाँ !' मैं सर हिला देता हूँ। वह जो कुछ कहना चाहती है उसके लिये उसकी शब्दावली कितनी नाकाफ़ी है। मगर इससे आगे कुछ नहीं कहेगी। न, एक

हरफ़ नहीं । मै उसे जानता हूँ ।

बड़ी से बड़ी पीडा को झेल गई वह, पर उसने भला कभी कुछ कहा ? हाथ झुलाते चल रही है। सहसा उसने मेरा हाथ पकड़ लिया है। बच्चों की तरह ।

'सुनो । अगर यहाँ से हम लोग पुल पार कर काफ़ीहाउस चलें तो ।'

'चलो ।' मेरे उत्साह की कोई सीमा नही. . 'चलो, अभी तो पाँच घंटे है ।'

'नही जी पागल हुए हो क्या, चलो वेटिंग रूम में चाय मँगवा दें ।'

हम लोग लौट पड़ते है । डूबता हुआ सूरज सामने है । नीचे टेढ़े मेढ़े उलझे हुए लोहे के साँपों जैसी पटरियाँ रंग रही हैं जिनकी पीठ पर पिघला मूँगा बह रहा है। बीच-बीच में कुली कामगार और राहगीर पैदल लाइनों को पार कर रहे है । एक बड़े से शेड में टूटे हुए इंजन मरम्मत के लिए पड़े हैं। सूरज का लाल गोला एक मालगाडी के पीछे डूब रहा है । 'फौजियों के नहाने की जगह', 'हाथ धोने की मिट्टी', 'कन्ट्रोल रूम'......मैं प्लैटफार्म के बोर्ड और लिखावटें पढ़ रहा हूँ । कितना शान्त हूँ मै, कितना निश्चिन्त । वह साथ-साथ चल रही है और हम समय की पूर्वापर क्रमिकता का बन्धन तोड़ चुके है . . जीवित वर्तमान. . और वह, जो मेरे साथ है ।

वेटिंगरूम बिल्कुल बदल गया है । उसमें बिजली जल रही है और पता नहीं क्यों अब उसकी वह रहस्यमयता जाती रही जो गोधूलिवेला में थी। एक नवपरिणीता वधू आकर बेंच पर बैठ गयी है । दीवार की ओर मुँह । जरी की सैंडिल, साँवले पावों में मोटा महावर । हाथों में चूड़े। सहसा वह मुड़ती है । चेहरा साँवला है । पर बेहद सलोना । आँखें रोती रोती सूज गयी हैं । जब तक उसका मुँह दीवार की ओर था कमरे का वातावरण बड़ा ही हल्का, और भोंड़ा सा लग रहा था । उसके मुँह इधर करते ही कमरे में जैसे करुणा भर भर उठी, विदाई के लोक गीतों की करुणा:—

मोरे पिछरवा लवंग केरबिरवा, महकइ बड़े भिनसार ।
मोरे पिछरवा लवंग करबिरवा इलग बिलग गई डार ?

वह उठ कर उसके पास बैठ जाती है। बातें होने लगती हैं। मैं स्टाल पर चाय पीने चल देता हूँ। हबीब मिल जाता है वहाँ। आठवें में मेरे साथ था। हाकी का कैप्टेन। अब गार्ड है। "चलो बम्बई घुमा लावें, ट्रेन अपने बाप की है।"

अकस्मात वह आती हुई दीख पड़ती है। तेज़ी से। जरूर रोई है।

"अच्छा चाय पीली तुमने। सुनो! इसी शहर की लड़की है। जानते हो इम्फाल में ब्याही है। अब कभी नहीं लौटेगी।" उसका गला रुँधा है। मैं पैसे चुका कर चल देता हूँ। जानता हूँ न उसे। यहीं चाय की स्टाल पर खड़े खड़े आँसू टपकाने लगेगी। दुनिया भर का दर्द तो उसी के सर माथे है न? लड़की वह इम्फाल में व्याही है। रोयेंगी आप।

वह मेरा हाथ पकड़ कर जैसे खींचे ले जा रही है। फिर वही खुला प्लेट-फार्म। रात हो चुकी है। हम लोग बढ़ते जा रहे हैं।

एक बेंच आई।

"बैठोगे यहाँ" और वह मुझे बिठा लेती है। बेंच के पास का लैम्पपोस्ट खामोश जल रहा है। अँधेरे के अथाह समुद्र में जैसे वह एक छोटा सा द्वीप है। हम दोनों को ज्वार वहाँ फेंक गया है।

वह गर्दन घुमाकर चारों ओर देखती है। फिर सिर झुकाकर कहती है—"वही प्लैटफ़ार्म तो है यह?"

"कौन सा?"

"जहाँ से...मेरी विदा हुई थी। तुम्हें क्या याद होगा। तुम तो थे ही नहीं। उस दिन भी कोई काम निकल आया था न तुम्हें छोड़ कर चले गये थे न"?

मैं चुप!

"सुनो", वह फिर बोलती है—"तुम्हें किसी ने भी ममता नहीं दी!"

"क्यों" ?

"दी होती, तो तुम भी दूसरों को देते न ?" और उसके बाद दो हिचकियाँ और कन्धे पर गर्म गर्म आँसू की एक बड़ी सी बूँद। मुझे होश नहीं था कि कब उसका स्वर गहरा गया था, कब उसका माथा मेरे कन्धे पर आ टिका था . . .

"सुनो !", वह रुँधते हुए रुक रुक कर बोल रही है—"जिसे लाना उसे ममता से भर देना। अंग अंग पोर पोर। कहीं भी वह रीती न रहे। ममता से छा देना उसे। न . . न . . मैं जानती हूँ तुम वैसी ममता दे सकते हो। मैं कहूँ कुछ पर मैं जानती हूँ। मैं जानती हूँ। तुम्हीं वैसी ममता दे सकते हो—सिर्फ तुम्हीं !"

(मैं चुप हूँ। न ! आँसू मुझे आ ही नहीं सकते पर नीचे का होठ काँप रहा है।)

"मैं जानती हूँ।" वह सिसकते हुए बोल रही है—"मैं इतने दिन रह कर भी उसे देख नहीं पाई और अकस्मात मुझे जाना पड़ रहा है। वहाँ से तुम्हारे बुलाने पर आ पाऊँगी या नहीं, मैं नहीं जानती। वह दूसरी दुनिया है दूसरे लोग हैं। पर . . . पर मैं जानती हूँ जिसने तुम्हें जीता है वह बहुत बड़ी होगी। बहुत बड़ी। नहीं। मैं जानती हूँ मुझसे भी बड़ी। पर सुनो, उसे उतनी ही बड़ी ममता देना उतनी ही बड़ी . . . तुम दे सकते हो।" और अकस्मात बाँध टूट जाता है। वह फूट फूट कर रो पड़ती है। हिचकियाँ . . . आँसू . . .

अकस्मात् दूर खड़ी मालगाड़ी में तेजी से आकर एक इंजन जुड़ता है। खड़ खड़ खड़ खड़ खड़ डब्बे टकराते हैं। पहले से दूसरा फिर तीसरा, चौथा, पाचवाँ—आखिरी डिब्बा कट कर अलग हो जाता है। पीछे लाइन पर चला जा रहा है। एक मोड़, दूसरा घुमाव, तीसरा घुमाव . .

खड़ खड़ खड़ खड़ . . सामने के पीपल में पक्षी पर खड़खड़ाते हैं। जैसे पानी में कंकड़ पड़ते ही छायाएँ हिल कर मिटने लगती हैं वैसे ही स्मृतिचित्र बिखर रहा है, जलरंग पुछ रहे हैं। इन्द्रजाल की तरह स्टेशन लुप्त हो जाता है . . मैं मैं लौट आता हूँ वर्तमान में . . आधी रात, उचटी नींद, ठंडी छत, बेमतलब टहलता...ठण्डक बढ़ गई है। सामने नीम और पीपल के मूर्छित छायाचित्र।

पिछले दिसम्बर में मै उधर से गुज़रा। कुम्भ की तैयारियों ने स्टेशन का नक़्शा बदल दिया था। उस प्लैटफ़ार्म पर की सारी इमारत ढहा गयी थी। प्लैटफ़ार्म सपाट कर दिया गया था। कोई निशान तक नहीं उस वेटिंगरूम का। बिल्कुल अजनबी लगा मुझे अपना स्टेशन।

हवा चलने लगी है। पीपल के पत्ते खड़खड़ा रहे हैं। पंचमी का हंसिये जैसा चाँद कब आकर पीपल की शाखों में उलझ गया यह मुझे मालूम नहीं हुआ। नींद आने लगी है। पाँव थक गये हैं टहलते टहलते। मैं कमरे में आ जाता हूँ। मेरे कमरे का बेड लैंप जल रहा है। बगलवाले तकिये पर ढेर के ढेर रेशम जैसे केशपाश बिखरे हुए हैं। रोशनी की हल्की ज़र्द पाँखुरियाँ उसके नींद डूबे प्रोफ़ाइल पर जम गयी है। ये दूसरी पलकें हैं..गुलाबी नहीं। आगों की काटी फांक की तरह लम्बी, नुकीली। पतली लहरें।

वह करवट बदलती है। काजल की पतली लहरों में कम्पन होता है। लहरें टूटती हैं। वह आँख खोल देती है.. ओठों पर स्नेह की ममता की मुस्कान दौड़ जाती है। दो अर्द्ध-निद्रित बांहें उठती हैं फैली हुई, आमन्त्रण भरी जैसे कहती है "दे दो। सब मुझे दे दो।" मैं सहेज लूँगी। सब कुछ। गोरोचन का बड़ा सा टीका हल्के उजाले में चमक उठता है। उस एक रहस्यमय क्षण में जैसे सब उसे दे रहा हूँ। जो कुछ पाया वह भी, जो कुछ खोया है वह भी। ममता के एक गहरे क्षण में कितने प्यार, कितनी उपलब्धियाँ छिपी रहती हैं, जो हमने दूसरों से पाई हैं। हमारा अपना अंश कितना रहता है, कौन जाने ?

उसके केश मेरी पलकों पर बिखर गये हैं। बाँहें फूल-मालाओं की तरह कण्ठ में लपटी ह। मैं नींद में डूबता जा रहा हूँ-गहरे और गहरे रात के सन्नाटे को चीर कर एक उनींदी रेल की सीटी बोल उठती है। कोई ट्रेन छूट रही है। वहीं पहुँचेगी जहाँ के लिये छोड़ी गई है ? इतना जटिल टाइमटेबिल कौन बनाता है ?

पार्क, चिड़ियाँ और सड़क की लालटेन

कोई कहानी कहने नही जा रहा हूँ। आप खुद सोचिये पार्क, सड़क की लालटेन और चिड़ियाँ, ये भी कोई कहानी के विषय हो सकते हैं ? कितने भिन्न कितने बेमेल ! 'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा।' लेकिन भानमती की शिकायत करने से होता ही क्या है, उस कुनबे की कथा तो कहानी ही है। तो मैं आप को एक सचमुच का पार्क, एक सचमुच की लालटेन और कुछ वास्तविक चिड़ियों की अजब सी जिन्दगी के बारे में बताऊँगा। हाँ, बात पहले से कह दूँ, श्रोताओं में बहुत से ऐसे होंगे जिनके मन में पार्क के नाम से ही किसी ऐसे हरे-भरे पार्क का ध्यान आ गया होगा जहाँ अक्सर उपन्यासों के या कहानियों के नायक-नायिका अकस्मात् मिल जा हैं और मिलते रहते हैं। बदक़िस्मती से यह पार्क कहानियों के पार्कों जैसा बिलकुल नहीं है। सूखा; जिसकी रेलिंग जगह-जगह पर टूट गई है। ऐसा है यह पार्क, निम्न मध्यमवर्ग के लोगों की एक बस्ती में, तंग गलियों के बीच में स्थित। यूँ तो कई प्रसिद्ध नगर ऐसे हैं जिन्हें पार्कों का नगर कहा जाता है। जहाँ न केवल भूमि पर किन्तु लोगों की बुद्धि, सभ्यता, संस्कृति में भी बड़े-बड़े पार्क ही हैं। किन्तु यह नगर, अभाग्यवश पार्कों की दशा में इतनी उन्नति नहीं कर पाया। इसीलिए पार्कों की अपेक्षाकृत कमी को देखते हुए इस तंग गलियों वाली बस्ती में इस पार्क का अस्तित्व अचरज में डाल देता है।

वास्तव में इस पार्क के निर्माण के पीछे एक अजब सा इतिहास है। वह इतिहास आप को सरकारी काग़ज़ात में नहीं मिलेगा, लेकिन इस बस्ती के लोगों को वह इतिहास मालूम है। आज से १५ वर्ष पहले, जहाँ यह पार्क बसा है, वहाँ नमी, सीलन, कीचड़ भरी एक गन्दी बस्ती थी। मिट्टी की मोटी बेडौल दीवारें, फूस के छप्पर, और गलियों के नाम पर बदबूदार कीचड़ में रक्खी हुई तरतीबवार ईंटें जो मुख्य गली से लोगों की देहरियों तक रक्खी रहती थीं। जाड़ा, गर्मी, बरसात, हर मौसम में लाखों मच्छरों के झुंड के झुंड उस कीचड़ पर आराम से तैरते रहते थे। उस तमाम बस्ती में सभ्यता का विकास मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भी पहले के काल का था क्योंकि हड़प्पा में तो पुरातत्ववेत्ताओं ने नालियाँ खोद निकाली हैं। उस बस्ती में नाली जैसी कोई भी चीज़ नहीं पाई जाती थी। इस बस्ती में कुछ खटिक, कुछ चमार और कुछ डोम रहते थे खटिक मुर्गियाँ पालते थे, बतखें पालते थे और चिड़ियों के नाम पर बड़ी-बड़ी बूढ़ी और मैली बत्तखें अपने छातेदार पंजों से कतारों में चलती हुई, उस कीचड़ में चोंच डाल कर खाना ढूँढ़ती थीं। (आप क्षमा करेंगे, चिड़ियों के नाम पर मैं मोर, हंस, चकोर, चकई, चकवा, या कोयल की बात न बता पाऊँगा क्योंकि ये उस बस्ती में पाये ही नहीं जाते थे।) ये बत्तखें छोटे खटिक की थीं और इन के कारण बिरादरी में उसका मान था। जब ये बत्तखें स्कूली लड़कियों की तरह, गोल बांधकर, पंख फड़फड़ाती हुई आपस में चीख़-चीख़ कर बातें करती हुई चलती थीं तो बस्ती भर की निगाह उन पर जम जाती थी और छोटे खटिक की छाती गर्व से फूल उठती थी। वह हर शनिवार को 'कैन्टूमैन्ट' और 'सिविल्लैन' के बंगलों म बत्तखों के अण्डे पहुँचाने जाया करता था। अगर उसका पड़ोसी बसंतू का इक्का उधर जाता हुआ हो तो वह उसी पर बैठ जाता था। बसन्तू और उसकी बिरादरी के सभी चमार इक्के हाँकते थे पर बसन्तू के घोड़े को कोई नहीं पा सकता था। किले के किसी अधगोरे साहब ने यह घोड़ा उसे फौज में से जाने कैसे दिलवा दिया था। शिकोटी[1] और नागपंचमी के दिन बसन्तू, घंटियाँ, कौड़ियाँ, दुपट्टे और कल्गी से अपने घोड़े को सजाता था और फिर गहरेबाज़ी में क्या मजाल कि लाल मुहम्मद का घोड़ा[2] उसके आगे निकल तो जाय। ये लोग उस कीचड़ में रहते थे मगर कीड़ों की तरह नहीं। अभि-

---

१. प्रयाग का एक स्थानीय मेला। २. गहरेबाज़ी में मशहूर एक घोड़ा जिसे बाद में किसी ने ज़हर दे दिया।

मान से सर उठा कर। हाँ उस तमाम बस्ती में एक अजब सा व्यक्ति था मित्तू डोम। उसकी औरत उस को छोड़कर भाग गई थी। उसके घर का छप्पर आँधी में उड़ गया था, दरवाजे बस्ती के लड़कों ने उखाड़ कर चौराहे की होली मे जला दिये थे और मित्तू कनस्तर के टीनों की छाजन में, एक बँसखट पर पड़ा रहता था और दरवाजे पर चार बाँसों को कैंचीनुमा बाँधकर टिका देता था। उसके तीन काम थे। यदि कहीं कोई जानवर मर जाय तो म्युनिसिपैलिटी की ओर से उसे उठाकर नदी मे प्रवाहित करता था, सरकारी अस्पताल में या कोतवाली में कोई लावारिस मुर्दा हुआ तो उसे गाड़ी पर लाद कर घाट तक ले जाता था और अक्सर तार का एक बड़ा फन्दा लेकर लोहे की बड़ी सींखचेदार गाड़ी में घूम-घूम कर कुत्ते पकड़ता था। शहर भर के कुत्ते उसे पहचानते थे और उसे देखते ही विचित्र त्रास, आशंका, भय और विरोध मिश्रित स्वर में भागते जाते और भूंकते जाते थे। न सिर्फ़ कुत्ते वरन् शहर भर के बच्चे उससे डरते थे, उनमें यह किम्वदन्ती मशहूर थी कि मित्तू डोम कुत्तों की जीभ से दवा बनाकर गोरों को दे आता है। बसन्तू चमार और छोटे खटिक भी मित्तू से नफ़रत करते थे। ये लोग ज़िन्दा जानवरों के मालिक थे, मित्तू डोम मुर्दों का। और इसीलिए अपने छाजन में टूटी खाट पर दिन-रात दारू में बुत्त मित्तू डोम लेटा रहता था और जाने किसे निरन्तर डाटता रहता था—दीवारों को, कड़ियों को। ये थे वे लोग और यह थी उनकी ज़िन्दगी, जिसका यह ढर्रा जाने कब से चला आ रहा था।

हाँ कुछ दिनों बाद, एक नई बात हुई। एक बंगाली बाबू ने इस बस्ती के पीछे वाली एक टूटी हवेली इसाक़ मियाँ से ख़रीदी और उसमें आने के दूसरे ही दिन बाद उन्होंने छोटे खटिक को बुलाकर दो मुर्गियाँ ख़रीद लीं। फिर तो उसके बाद पीछे की ओर बाबुओं की एक बस्ती ही बस गयी। चूंकि उनके आने-जाने का रास्ता उसी बस्ती में से होकर था इसलिए एक दिन देखा गया कि कुछ म्युनिस्पैलिटी के मजदूर एक खम्भा और लालटेन लाद कर लाये हैं। वह लालटेन लगी और एक हल्की-धीमी रोशनी शायद कई सदियों बाद उस बस्ती में पहली बार चमकी। सच मानिये, वह एक चमत्कार था। उस दिन बसन्तू ने जल्दी घोड़ा खोल दिया, छोटे खटिक कैण्टूमेण्ट नहीं गया, सभी उस लालटेन के नीचे बैठे रहे। हाँ, मित्तू डोम जरूर नजदीक नहीं आया। दूर से ही पड़ा-पड़ा इस लालटेन को गालियाँ देता रहा। तीसरे दिन बसन्तू की औरत मुँह अंधेरे टोटके लिए चौराहे पर जल चढ़ाने गई तो उसने लौटते वक्त एक लाल फूल लालटेन मैया के नीचे भी रख दिया, कि वह अप्रसन्न न हो और छोटे बच्चे तो

महीने भर तक उस लालटेन के पास नहीं आये, क्योंकि उन्होंने सुना था कि जिस लोग उस लालटेन को जलाते हैं और उसके नीचे चुड़ैलें नाचती हैं, जिनके पंजे पीछे की ओर होते हैं। इस लालटेन की एक गाथा बन गई थी। लोग उसे भय, श्रद्धा और आश्चर्य से देखते थे। वह लालटेन रोशनी भी देती है, उससे रास्ता भी ढूंढ़ा जा सकता है, इसे कोई नहीं जानता था। हालांकि वह उन्हीं की बस्ती में लगी थी।

और फिर एक दूसरी नयी बात हुई। एक कोई गांधी बाबा पैदा हुए। जेल में बिल्कुल श्री कृष्ण भगवान की तरह उनका जन्म हुआ था, पदा होते ही उनके हाथ में सुदर्शन चक्र नाचने लगा जिसमें से सूत निकलने लगा। फिर गांधी बाबा ने सुदर्शन चक्र को कुल्हाड़े में बदल दिया और ताड़ के पेड़ कटने लगे। गोरे लोग उन्हें बन्द करने आये तो देखा कि ताड़ के पेड़ में से तो दूध निकल रहा है। ये सब बातें छोटे खटिक ने मुहल्ले वालों को बताई थीं, क्योंकि इतवार को वह ताड़ी पीता था। मगर अब ताड़ीखाने पर गांधी जी के चेले धरना देते थे। होते-होते हुआ यह कि एक दिन छोटे खटिक भी गांधी जी का चेला हो गया। उसने ताड़ी पीना छोड़ दिया। उसकी औरत जिसे वह ताड़ी पीकर मारता था, इससे इतनी खुश हुई कि अगले माघ में उसने गांधी जी के नाम गंगा जी का एक झंडा उठाने की मानता की। बढ़ते-बढ़ते गांधी बाबा का तेज इतना बढ़ा कि गोरे लोग बोले कि भाई अच्छा अपने अपने सूबे में गांधी बाबा के चेले राजपाट सम्हालें। फिर क्या था, 'ओट' पड़ा और छोटे खटिक बिगुल बजा बजा कर जुलूस निकालता रहा। उधर जो नए बाबू लोग बसे थे उनके लड़के सब गांधी बाबा के चेले थे। गांधी बाबा जीते। छोटे खटिक ने उस दिन बसन्तू का इक्का सजवाया और बसन्तू ने भेली गुड़ की मित्त डोम को भिजवाई।

लेकिन दुश्मन सबके होते हैं। महीने भर बाद दशहरा और मुहर्रम साथ पड़ रहे थे और लोग कहते थे कि गांधीजी के दुश्मनों ने सैकड़ों लठवन्द देहात से बुलवाए हैं। जिनमें से कुछ ताजियों के साथ रहेंगे और कुछ महाबीरी अखाड़े में और उस दिन शहर में जो न हो जाय थोड़ा है। जुलूस इस बस्ती के बगल से होकर जाता था। बहुत सनसनी थी, फ़ौज का पहरा था। त्योहार के चार दिन पहले पीछे वाले बाबू लोग घर छोड़ कर दूसरे सुरक्षित मुहल्लों में चले गए थे। पर छोटे खटिक निश्चिन्त था। इसाक़ मियाँ, पीरे, रसूल—ये लोग भी वहीं थे। उनको क्या लेना-देना।

मगर जब अगले चौराहे पर दल और ताजिया मिला तब एकाएक लाठियां हवाओं में उठ गईं और ईंटें बरसने लगी। हजारों लठ्ठबन्दों का रेला जब इस बस्ती की ओर आया तब बसन्तू, छोटे, इसाक़, पीरे सभी लाठियां लेकर दौड़े। सवाल इस वक्त हिन्दू-मुसलमान का नहीं था, सवाल मुहल्ले की रक्षा का था। छोटे की औरत को पीरे काकी कहता था और इसाक़ मुहल्ले के रिश्ते से बसन्तू के दादा थे। इसाक़ बूढ़े थे, पर गजब की हिम्मत थी उनमें। छोटे उन्हें रोकते ही रह गया पर वे भीड़ में घुस ही गए। पर लठबन्द तो टिड्डी दल की तरह घुसते ही चले आ रहे थे। इसाक़ घूमकर लौटे और औरतों बच्चों को फौरन पीछे की ओर से निकाल ले गए। इतने में मित्तू डोम का छप्पर जलता हुआ नजर आया और फिर तो आग जो फैली तो कहते हैं कि मीलों दूर के मुहल्लों से उजाला और धुंआ दीख पड़ा। छोटे, बसन्तू सब भागे। रात उन्होंने एक पेड़ के नीचे काटी। दूसरे दिन शहर में मार्शल्ला था, पर चुपचाप बसन्तू, पीरे, इसाक़, छोटे अपने मुहल्ले की ओर लौटे तो देखा सारा मुहल्ला भस्म हो गया है। लालटेन के शीशे फूटे पड़े हैं। मित्तू डोम का कुछ पता नहीं था। कुछ लोग कहते हैं मौका पाकर आग उसी ने लगाई थी। मगर क्यों? यह कोई नहीं जानता था।

दंगा ख़त्म होने के बाद बाबू लोग अपने-अपने घरों में लौट आए पर छोटे, बसन्तू, पीरे, इसाक़—ये लोग न लौट पाए। बाबुओं ने दरख्वास्त दी थी कि स्वास्थ्य और खुली हवा के लिए यहाँ पार्क बनाया जाय और यह दरख्वास्त मंजूर हो गई थी। और तब इसी लालटेन के उत्तर वाली जमीन में पार्क बना। छोटे और बसन्तू और पीरे को मुआवजा मिला पर उतने में बसन्तू अपना घोड़ा नहीं रख सका। जिस दिन उसने घोड़ा बेचा उस दिन वह इतना फूट-फूट कर रोया जितना घर जल जाने पर भी नहीं रोया। और इस तरह यह लालटेन लगी, यह पार्क बना। कुछ दिनों रौनक़ रही पर धीरे-धीरे लड़ाई ने और बाद की महंगाई ने बाबुओं की भी रीढ़ तोड़ दी। सुबह के निकले-निकले रात को घर आते थे। पार्क साफ हवा के लिए बना था पर बाबुओं की क़िस्मत में वक्त नहीं। महंगाई के ७, ८ सालों ने उन्हें बूढ़ा बना दिया था। पार्क धीरे-धीरे उजड़ गया, रेलिंग टूट गई, बेंच उखाड़ कर लोग ले गए। लालटेन लगी है, पर जलती नहीं क्योंकि जो कहार बत्तियाँ जलाने के लिए तैनात है वह उसका तेल चुरा कर चुपके से बाबुओं को बेच आता है, वरना बच्चों को खिलाए क्या। हाँ चिड़ियाँ अब नहीं रहीं। पहले छोटे की बत्तखें गईं। फिर घरों में कुछ गौरैयाँ थीं जब तक दाना था, अब बाबुओं के घरों में दाना पूरा ही नहीं पड़ता।

और इस क्षण भी यह कहानी इसी तरह चल रही है। पहले छोटे, बसन्तू, गेरे, इनके पांव उखड़े और वे तिनके के सहारे बह गए। फिर बाबुओं के पॉव उखड़े और वे तिनकों के सहारे हर र हैं। साफ़ हवा है पर किसी को मयस्सर ाहीं, लालटेन है, पर उसमें रोशनी नहीं, चिड़ियों के संगीत हैं पर उनके लिए ाना नहीं। आज पार्क, लालटेन और चिड़ियों की यही कहानी है।

कहानी मैंने आपको सुना दी, अब मैं आपसे थोड़ी सी मदद चाहूँगा। इसका न्त मुझे आप सुझा दें। क्या हमेशा इसी तरह एक के बाद दूसरे लोग तेनकों की तरह बहते जायेंगे? या कभी वे तिनके एक साथ मिलकर नया केनारा बनायेंगे, नई दिशा में धार को मोड़ देंगे? क्या ये पार्क और लालटेन सी तरह सुनसान पड़े रहेंगे या पार्क में कभी स्वस्थ नई पीढ़ी साफ़ हवा ायेगी, चिड़ियों के कण्ठों में नयी सुबह के गीत फूटेंगे और लालटेनों में वह ोशनी वापस आएगी, वह ज्योति जिसके लिए हमारी जनता ने संस्कृति के पःकाल में ही प्रार्थना की थी, 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' हमें अन्धकार से काश की ओर ले चलो? मैं जानना चाहूँगा कि आप अन्धेरे में रहेंगे, या प्रकाश े लिए लड़ेंगे? आप मझे जो उत्तर देंगे वैसा ही अन्त मैं कहानी में जोड़ दूंगा ब तक इस कहानी को अधूरा रहने देता हूँ।



साहित्यिक डायरी

कैक्टस

अब मुझे याद आ रहा है—आधुनिक साहित्य और कैक्टस वाली बात दिनकर जी ने कही थी। पिछली गर्मियों की बात है। हम लोग ताकुला से पैदल नैनीताल की ओर जा रहे थे। मराठी के प्रख्यात कवि बोरकर, डा० लक्ष्मी-नारायण लाल तथा कुछ लोग और थे। बात किस पर चल रही थी मुझे ठीक-ठीक याद नहीं रहा, शायद नये प्रतीकों पर—और दिनकर जी पैनी नुकीली फ़ब्तियों से हँसाते-हँसाते तीन मील की चढ़ाई पार करा ले गये। जाने कैसे बात बाग़बानी पर आई और दिनकर जी बोले—"दिल्ली में कैक्टस लगाने और सजाने का शौक़ बढ़ रहा है। क्यों कोई चीज़ कब अधिक लोकप्रिय होने लगती है इसके पीछे युग-मानस रहता है और सच पूछो तो यह कैक्टस बिल्कुल प्रतीक है नये साहित्य का, नयी कविता का,—क्यों भारती ?" सब हँस पड़े। इसके पहले कि मुझ पर यह बात आगे बढ़े मैंने देखा कि ऊपर टेलीफ़ोन के तारों में पास के क्वार्टरों से उड़ कर आई हुई किसी की साड़ी फँसी हुई है और हवा में खूब लहरा रही है। बोरकर जी बड़े ही कुशल गीतकार भी हैं। मैंने बात उन पर टाली और तुरंत बोला—"देखिए, यह बोरकर जी के साहित्य-दर्शन का प्रतीक है।" सबकी निगाह ऊपर गई और फहराती हुई तार में फँसी साड़ी को देखकर बोरकर जी भी ठठाकर हँस पड़े और बोले—"प्रतीक क्यों यह तो पूरा झण्डा है!"

बात मेरे भी ध्यान से उतर गई थी, पर कल अपने कैक्टस के गमलों को सँवार रहा था तो अकस्मात याद आ गई। दिनकर जी सही कहते थे। कैक्टस में और आधुनिक साहित्य-दृष्टि में साम्य है जरूर! कुछ ऐसा अनगढ़ आकर्षण है इन पौदों में जो नये साहित्य से मेल खाता है। परम्परागत साहित्य की लयबद्धता, तराश, पच्चीकारी, सजाव-सिंगार में अपना आकर्षण हो पर वह कैक्टस वाला आकर्षण तो नहीं ही है। कैक्टस को वनस्पति शास्त्र की भाषा में "ज़ीरोफिटेड" कहा जाता है। अर्थात् बालू हो, कँकड़ीली मिट्टी हो, कड़ी धूप हो, पानी न हो, खाद न हो, देखभाल भी न हो पर यह पौदा जीवन की अदम्य षणा करता हुआ उगता रहता है; बाहर काँटे, अन्दर रस। सामन्ती मनोवृत्ति वाला कवि—जो बादशाहों से खिलवतें और जागीर पाने का आदी था, कैक्टस (सेंहुड़, नागफनी आदि) का महत्व नहीं समझ सकता था। उसे तो कैक्टस कंजूस राजा की तरह लगता था—"अब बागन बिच देखियत सेंहुड़ कंज करीर!" पर वास्तव में कैक्टस सचमुच किसका प्रतीक था यह पहचाना आज के विद्रोही कवि ने जिसने कैक्टस के छोटे भाई कुकुरमुत्ता को गुलाब से बेहतर माना! क्योंकि केवल वही सुन्दर नहीं है कि जिसे अतीत की परम्परागत विलासी दृष्टि सुन्दर कहती आई है बल्कि सुन्दर वह भी है जो कूड़े में से उगता है, पर स्वाभिमान से सर उठा कर खड़ा रहता है। और यह बात यद्यपि आज नये कवियों या कथाकारों और समीक्षकों ने पूरे जोर से उठाई है पर छायावाद के दोनों महत्वपूर्ण कवि निराला तथा पंत पहले ही इसका संकेत दे चुके थे। निराला ने कुकुरमुत्ता का प्रतीक अपनाया और पंत ने स्पष्ट कहा—"कूड़ा कर्कट सब भूपर, लगता सार्थक औ' सुन्दर!" और जब आधुनिक साहित्य-चेतना अतीत की प्राणहीन रूढ़ियों और सामन्ती विलासजन्य सौन्दर्य-दृष्टि की संकीर्णता को त्यागकर विराट जीवन के अनगढ़ आकर्षण को आत्मसात करने के लिए बढ़ी तो उसकी अनिवार्य परिणति उस नये सौन्दर्य-बोध में होनी थी जो आज नयी कविता में, नये कथा-साहित्य में, नये समीक्षा-सिद्धान्तों में बार-बार, अगणित रूपों में प्रगट हो रहा है।

साहित्य-दृष्टि के इस परिवर्तन की भूमिका तो बहुत पहले से बन रही थी पर इधर कुछ इतनी तेजी से इसका परिवर्तित रूप सामने आया है कि काफ़ी लोग इसका स्वागत करते हुए भी संशय में पड़ गये हैं; द्विविधा है, दबा और खुला दोनों प्रकार का विरोध भी है, फिर भी यह परिवर्तित साहित्य-दृष्टि बिना पराजित हुए चारों ओर विकास करती चली जा रही है।

हो सकता है आप यहाँ मुझे रोक कर पूछना चाहें—

"क्यों भाई, जो कुछ विरोध के बावजूद बढ़ता चला जाय वह सही ही होता है, यह तो कोई तर्क नहीं है। बहुत रोक-थाम करने के बावजूद महामारी फैलती चली जाती है! तो यह नयी साहित्य-दृष्टि भी............" सवाल आप का बहुत उचित है, और आपने तो बड़ी सज्जनतापूर्वक पूछा है, (वैसे हिन्दी में तो कुछ लोग न केवल नाराज हो बैठते हैं बरन लगता है सारा संतुलन ही उनका खो जाता है जब वह नये का विरोध करने चलते हैं!) मैं जानता हूँ कि आपका प्रश्न उस भावना से प्रेरित नहीं है, आप सचमुच समझना चाहते हैं कि आखिर नया लेखक क्यों उन चीजों को नहीं उठाता जिसे आप अभी तक सुन्दर कहते आये हैं।

सुन्दर क्या है और असुन्दर क्या है, इस बहुत विवादास्पद प्रश्न को अगर हम नये सिरे से न भी उठाएँ तो भी इतना तो बताना बहुत आवश्यक है कि नया लेखक यदि देखता है कि पिछली दो शताब्दियों से एक कोई चीज साहित्य में बराबर आ रही है जो अब घिस-घिस कर अपना महत्त्व खो बैठी है तो वह उस चीज को त्याज्य समझेगा, चाहे परम्परागत दृष्टि से वह अति सुन्दर और अनिवार्य ही क्यों न मानी जाती रही हो। इसकी अपेक्षा यदि कोई ऐसी चीज है जिसका जिक्र अभी तक साहित्य में वर्जित माना गया हो, पर यदि उसके बारे में लिख कर वह आप में एक नया परिप्रेक्ष्य जगा सकता है, अपनी जीवन-प्रक्रिया को और भी उद्बुद्ध कर सकता है तो वह उसके बारे में अपने ढंग से लिखने में नहीं हिचकेगा। और फिर जब वह युग के समग्र परिवेश में अपना यह सृजन-कार्य करेगा तो उसकी कला-शैली भी उसी के अनुरूप अपने को बदलेगी ही।

आखिर कैक्टस का यह विकास रेगिस्तानों में हुआ होगा जहाँ सूरज से आग बरसती है, उसे अपने मर्म को इतनी कड़ी रेशेदार मोटी छाल में छिपाकर रखना पड़ा वरना रेतीली भूमि से उसने कण-कण कर जो रस खींचा है वह एक ही क्षण में उड़ जाता। इतना तेज अन्धड़ बहता है इसीलिए उसको कड़ी रीढ़ विकसित करनी पड़ी वरना वह एक ही झोंके में टुकड़े-टुकड़े हो जाता। उसे काँटे विकसित करने पड़े ताकि वह ऐसे पशुओं से अपनी रक्षा कर सके जो हफ्तों के लिए अपने पेट की थैली जल में संचित कर भी किसी नये हरे पौदे को देखकर बलबलाकर मुँह मारने का लोभ नहीं छोड़ पाते।

(काँटों की बात करते-करते मुझे एक बात याद आ गई। गमले में जब मैं अभी उस कैक्टस को संवार रहा था तो अकस्मात उसका एक त्रिशूलनुमा काँटा

टूट गया। कांटा टूटते ही उसमें से टप-टप दूध की बूंदें टपकने लगीं। अन्दर कितनी दुग्ध-स्निग्धता भरी थी उस टेढ़े-मेढ़े कैक्टस में।)

आज का युग मानव-चेतना के लिए कितना भयानक रेगिस्तान साबित हुआ है, उसमें कितनी पथभ्रष्ट करने वाली मृगमरीचिकाएं रही हैं, (जिनमें से कुछ की असलियत वर्षों पहले खुल गई है और कुछ की अब खुल रही है) कितने भयानक अन्धड़ चलते रहे हैं और मानव की सहज रसस्निग्धता को निगलने के लिए कितने भूखे पशु विचरण करते रहे हैं—मनुष्य को जड़ बनाने वाला जड़वाद, आर्थिक सुविधाएँ छीन कर कुण्ठित और बौना बनाने वाला पूँजीवाद, विचार-स्वातन्त्र्य का अपहरण कर मनुष्य को पशुधर्मी बनाकर, व्यक्ति-पूजा करानेवाला तथाकथित समष्टिवाद और जाने कितनी ही पद्धतियाँ और सत्ताएं जो इस जड़वादी युग की देन हैं, वे मनुष्य से उसकी सहज रागात्मकता, श्रद्धामयता तथा उसके विकास की अमित संभावनाएँ छीनने में तत्पर हैं। आज दार्शनिक, वैज्ञानिक, समाजशास्त्री सभी इस व्यापक संकट के प्रति सचेत हैं और अपनी दिशा में इसके निराकरण के उपाय ढूंढ़ रहे हैं। आधुनिक साहित्य-दृष्टि भी इसका सामना कर रही है। उसने इस चुनौती को स्वीकार किया है। जो इस चुनौती की वास्तविक प्रकृति को समझते हैं वे इस नये सौन्दर्य-बोध को भी समझ सकते हैं। जो इस आधुनिक युग में मानवीय संकट की विडम्बना को ही नहीं समझ पाये हैं वे अगर किसी चीज को सही तौर समझने की ज़िद करें, पचास वर्ष पूर्व की धारणाओं को ही अपनी कसौटी बनाए रहें तो वे इस आधुनिक साहित्य-दृष्टि से बुरी तरह चौंक भी सकते हैं। यों तो उनका चौंकना भी खासा मनोरंजक होता है पर उससे एक नुक़सान हो सकता है, वह यह कि किसी को उनके चौंकने में इतना रस आने लगे कि वह ठोस काम छोड़कर उन्हें चौंकाने में ही लग जाये। नया साहित्य चौंकाता है, यह एक गलत कथन है। सही यह है कि नये साहित्य से रूढ़िवादी चौंकता है और यह कोई नयी बात नहीं। हमेशा ऐसा होता आया है। किसी भी गहरे और नये विचार को जनमानस में जड़ पकड़ने में कुछ देर लगती ही है और यह अच्छा ही है क्योंकि उस बीच में वह विचार मँजता है, उसके अनावश्यक काँटे टूटते हैं और अन्दर का रस बाहर झलक आता है जैसा आज उस गमले में उस कैक्टस को सँवारते समय घटित हुआ।

राज्य और रंगमंच

मराठी के वयोवृद्ध नाटककार मामा वरेरकर को भारत सरकार ने संसद की सदस्यता प्रदान की है, यह समाचार पढ़ कर मन में दोनों प्रकार के भाव जगे। प्रसन्नता तो हुई ही, मामा ने रंगमंच के लिए अपने जीवन भर जो अथक संघर्ष किया है उसके सम्मान में और आज भी उनके मन में रंगमंच के उत्थान के जो स्वप्न हैं उसकी पूर्ति के लिए जो भी किया जा सके वह थोड़ा है। आशा है कि संसद में, संगीत-नाटक-अकादमी में तथा अन्य राजकीय समितियों में उनकी उपस्थिति रंगमंच सम्बन्धी एक जीवन-व्यापी अनुभव का लाभ प्रदान करेगी.. किन्तु एक आशंका भी होती है। इन राजचक्रों में जाकर बड़े बड़े स्वप्नद्रष्टाओं ने कुछ ऐसी सीमाओं का अनुभव किया है जो धीरे धीरे स्वप्नों को धूमिल कर देती हैं। केवल चक्र शेष रह जाते हैं वह भी धीरे धीरे कुचक्र लगने लगते हैं। पिछले वर्ष मुझे उनसे न केवल मिलने वरन काफ़ी दिनों साथ रहने और अत्यन्त निकट से उन्हें जानने का सौभाग्य हुआ। तब पहली चीज जो मैंने उनमें पायी थी वह यह कि वे शासकीय सत्ता के सामने नतशिर होने के बजाय छोटे से छोटे लेखक के स्वाभिमान की रक्षा के प्रति अधिक सचेत थे। उनका वह स्वर इस सम्मान की वेला में भी दबे न, खण्डित न हो यह उन बहुत से लोगों की कामना होगी जो उनके प्रति आदर की भावना रखते हैं।

वास्तव में मामा ने जीवन में जितना कष्ट उठाया है, रंगमंच के पीछे उसकी

उन्हीं के मुख से सुनना एक रोमांचकारी अनुभव है। सफ़ेद खद्दर का कुर्ता, धोती, कृश मुख, तथा उन्नत भाल पर श्वेत केश, अखण्ड धूम्रपान के बीच बीच एक बहुत उदार और मधुर मुस्कान .. उनमें व्यावहारिकता की कमी नहीं है। जिसने नाटक लिखे हैं, खेले हैं, बड़ी बड़ी मण्डलियों का संगठन किया है और मानव-स्वभाव को चित्रित करने, अभिनीत करते और मानव-स्वभाव की सारी दुर्बलताओं को जाँचने और परखने में सारा जीवन बिता दिया हो—वह किसी अतीन्द्रिय लोक का जीव नहीं होगा, इसी रागद्वेषमय संसार का प्राणी होगा—किन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जीवन के इतने विचित्र उतार चढ़ाव देखने के बाद भी उनमे कटुता नहीं है, और उससे भी बड़ी बात यह है कि अपने अभावों और कष्टों के प्रति उनमें किसी प्रकार की जटिल मनोग्रन्थि नहीं दीख पड़ती है। उनको बीसों वर्ष डाकखाने में नौकरी करनी पड़ी। उसी दौरान में वे नाटक लिखते और खेलते रहे और कभी कभी तो यदि बीस मील दूर किसी क़स्बे में नाटक होने वाला होता था तो वे ड्यूटी समाप्त कर रेल से वहाँ जाते, आधी रात रिहर्सल कराते और रात को ही चल कर सुबह आकर फिर ड्यूटी करते—और यह क्रम महीनों चलता। डाकखाने की इस अत्यन्त असुविधाजनक नौकरी को बड़े प्रेम से स्मरण करते हुए कहते—मैं तो अगर नाटक न भी लिखता तो भी स्वतःसिद्ध महान लेखक था। "कैसे"? अगर कोई पूछता तो गम्भीर मुखमुद्रा बनाकर वे कहते "जिन्दगी डाकखाने में गुजार दी चिट्ठियों के आने जाने का जिम्मेवार था इसलिए, 'मैन आफ लेटर्स' तो सरकारी नौकरी के बल पर ही हो गया। कोई नाटकों के बल पर, 'मैन आफ़ लेटर्स', थोड़े ही हूँ।"

वे तो सरकारी नौकरी के बल पर साहित्यिक होने की बात केवल विनोद में कहते थे पर आज जब उन्हें सरकार ने संसद के लिए नामज़द कर दिया है तब उन्हें सचमुच ऐसे वातावरण में जाना पड़ रहा है जहाँ अगर लोग सरकारी नौकरी के बल पर साहित्यिक नहीं बनते तो भी कम से कम साहित्य के बल पर अधिक से अधिक सरकारी प्रश्रय प्राप्त कर अपनी आजीवन कुण्ठित महात्वाकांक्षाओं के लिए प्रयत्न करते जरूर पाये जाते हैं। उससे भी ज्यादा बड़े खतरे की बात यह है कि नेहरू या राधाकृष्णन या इस प्रकार के जो भी इने गिने बुद्धिजीवी केन्द्रीय शासन में हैं, वे चाहे साहित्य को शासन की छाया से अलग रखने की बात करते भी हों (जैसा साहित्य, या नाटक-अकादमी के उद्घाटन-भाषणों और समय समय पर प्रकाशित वक्तव्यों से झलकता है) किन्तु शासन-यन्त्र का वास्तविक संचालन जिनके हाथों में है वे लोग साहित्यकारों की इस कमजोरी का लाभ उठा कर विभिन्न प्रलोभनों के आधार पर उनका

प्रचार-परक उपयोग करने का अवसर नहीं छोड़ना चाहते। इस बात को वे चाहे जितना घुमा फिरा कर कहे पर "साहित्य को प्रोत्साहन" देने के नाम पर वे साहित्य को भी अपने अगले चुनाव जीतने का माध्यम बनाने की फ़िराक़ में हैं, यह बात धीरे-धीरे सामने आ रही है।

इसी वर्ष की बात है कि एक हिन्दी-भाषी प्रान्त में प्रचार-विभाग की ओर से एक साहित्य, संस्कृति-प्रधान मासिक-पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया जिसके उद्देश्यों में यह वाक्य भी था कि यह पत्रिका—"राजनीति के कोलाहल कलह से दूर स्वस्थ, प्रेरक और जीवित साहित्य का स्वागत करेगी।" किन्तु इस पत्रिका का सम्पादकीय ही प्रचार-मन्त्री के अभिनन्दन से प्रारम्भ हुआ। बीच में एक बार प्रचार-मन्त्री ने एक व्यक्त में यह दुःख प्रकट किया कि हिन्दी संसार कुण्ठा से ग्रस्त है और उसके तुरन्त बाद उसके एक अंक का सम्पादकीय देखने में आया जिसमें सम्पादक ने उस वक्तव्य का पूरक प्रस्तुत करते हुए बताया था कि "ओ साहित्यकारो। अगर कुण्ठा से पीछा छुड़ाना है तो आओ—देश में सरकार जो निर्माण कार्य करा रही है उसकी प्रशंसा गाओ और अपनी कुण्ठा से मुक्त हो जाओ।" (अगर, साहित्यकार हिचके तो उसके लिए आप्त वाक्य है 'महाजनो येन गतः स पन्थ,—क्योंकि वैदिक ऋषि वाल्मीकि, अश्वघोष, भास, कालिदास, राजशेखर, सूरदास, तुलसीदास, कबीर-दास और भारतेन्दु के हाथों दरबारी प्रशस्ति की परम्परा और भी दृढ़ होते हुए आगे बढ़ी है। विश्वास कीजिए इस प्रसंग में ये सभी नाम उस सम्पादकीय में गिनाये गये हैं, मैंने इसमें एक नाम भी नहीं जोड़ा। किसका नाम जुड़ेगा? इतिहास पर छोड़ दीजिए—वही एक निर्णय करेगा कि इस नामावली में किसका नाम जुड़ेगा? राजा की प्रशस्ति करने वालों का या प्रजा का दुःख सुख, वेदना और सौंदर्य बोध का साहसपूर्ण चित्रण करने वालों का। निर्माण और ध्वंस दोनों पर राजा की दृष्टि से लिखने वालों का या प्रजा की दृष्टि से लिखने वालों का।)

नेहरू और राधाकृष्णन के समस्त सदाशयपूर्ण प्रयासों और वक्तव्यों के बावजूद यदि सरकारी मशीन देश की जनता पर अपना दृष्टिकोण आरोपित करने के लिए सन्नद्ध हो ही जाय तो निसन्देह रंगमंच से अधिक उपयुक्त साधन उसे क्या मिल सकता है। साहित्य के अन्य अंग तो पाठ्य हैं, पर यह दृश्य है। जन शिक्षा के नाम पर राजनीतिक प्रचार (चाहे वह किसी दल का क्यों न हो) करने के लिए रंगमंच का वह वैसा ही दुरुपयोग कर सकता है जैसा समय समय

पर व्यवसायियों ने जनता की कुरुचि को उभार कर रुपया कमाने के लिए किया है। पिछले दिनों दिल्ली में इस प्रश्न को लेकर जो महत्त्वपूर्ण वादविवाद हुआ उसमें श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय ने शासन की छाया से साहित्य और रंगमंच के विकास की राह में आने वाले खतरों से समूचे राष्ट्र को सावधान करने का साहसपूर्ण प्रयास किया है। नचिकेता ने "ये विपथगाएँ" शीर्षक से प्रकाशित एक बहुचर्चित वक्तव्य में बहुत स्पष्ट कहा है—"इस फसल और भी भय घेरे है। यार लोगों ने सुझाया कि साहित्य, लोकगीत, कला ये सब बहुत ही शक्तिशाली माध्यम हैं जनता को जीतने के। और प्रभुओं ने फरमाया 'कवि सम्मेलन' और 'फोक ट्यून' से योजना का अभिवर्धन तो होगा ही, आई० सी० एस० का दिमाग चर्खी की तरह डोल उठा, पंचवर्षीय योजना लोकगीतों के, नाटकों और कविताओं के साँचे में ढाली जाने लगी, पत्र-पुष्प की सुन्दर व्यवस्था हुई। इन प्रभुओं को और उनके परामर्शदाताओं को समझाने के लिए हमारे पास समय नहीं है क्योंकि ये उखड़े हुये बिरवे हैं, उनको कहीं भी रोपा जा सकता है, पर कहीं भी रोपा जाय उनमें फल नहीं आने वाले।"

कुछ दो चार अपवादों की बात जाने दें तो ब्रिटिश वातावरण में पनपा हुआ अधिकांश अफसर वर्ग अज्ञान और अधंकार का विचित्र सम्मिश्रण प्रस्तुत करता है। उत्तरप्रदेश के एक साहित्यक केन्द्र में एक बड़ी रोचक चर्चा सुनने में आई। ऐसे ही एक उखड़े हुए बिरवे को वहाँ रोपा गया। नाटकों के प्रस्तुतीकरण के लिए एक परिचर्चा गोष्ठी में जहाँ वह तथा कई साहित्यकार उपस्थित थे रेडियो के प्रसंग में कुछ नाटकों की बात चल पड़ी। उसके दौरान में उसने कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य बताये—सरकार साहित्यिक नाटकों को भी प्रश्रय देना चाहती है पर शर्त यह है कि वे नाटक क्लिष्ट न हों। किसी ने पूछा कि अगर कामायनी को प्रस्तुत करना हो तो क्या होगा उत्तर मिला—"शौक से कीजिए बस जरा उसकी जुबान ऐसी कर दीजिए कि समझ में आ जाय। आप लोग तो बड़े बड़े साहित्यकार हैं। चाहें तो उसे सरल जुबान में लिख सकते हैं।" यह समाधान सुनकर साहित्यकारों के कान खड़े हुये और उन्होंने पूछा "यदि जुबान न बदली जाय तो कामायनी को 'रूलआउट' कर दिया जायगा ?" उत्तर मिला—"हमें बहुत दुख: होगा, पर हमें मजबूर होकर रूलआउट कर देना पड़ेगा।" सौभाग्य या दुर्भाग्य से वहाँ सुमित्रानन्दन पन्त भी विराजमान थे। एक दिलजले ने पूछ ही तो दिया, "पन्त जी, यहाँ उपस्थित हैं, क्षमा करेंगे, पर फिर क्लिष्ट होने, के नाते आप "शिल्पी" आदि को भी रूलआउट कर देंगे ?' इसका जवाब देना जरा टेढ़ी खीर थी। क्षण भर के सन्नाटे के बाद हिचकता हुआ उत्तर आया—"नहीं। नहीं। अब ऐसा

भी क्या ? एक आध "क्लप्ट" तो चल सकता है।"

जब चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की अमर कहानी "उसने कहा था" पढ़ी थी तो लहनासिंह और लपटन साहब के उस वार्तालाप में बड़ा मजा आया था जिसमें साहब ने अज्ञानवश यह मान लिया था कि सिख सिगरेट पीते हैं, जगाधारी में नील गायें होती है, नीलगायों के सवा दो फुट के सींग होते हैं, अब्दुल खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाता है, और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। बहुत दिनों बाद वैसा मज़ा इस उपर्युक्त वार्तालाप में आया। पर जब उसके बाद ख्याल आया कि प्रश्न इस पदाधिकारी या उस पदाधिकारी का नहीं है......प्रश्न तो यह है कि राजकर्मचारियों के हाथ में जब नाटक और रंगमंच के विकास के सूत्र पहुँच जायेंगे और ऐसे लोगों की निरन्तर वृद्धि होती रही तो नाटक के भविष्य का तो फिर ईश्वर ही मालिक है।

इससे बिलकुल विपरीत एक दूसरा चित्र सामने आता है। कुछ साधनहीन तरुण अभिनेताओं की एक छोटी सी परिवार जैसी मंडली। कोई उनमें से अभी पढ़ता है कोई किसी दफ़्तर में काम करता है, कोई ग्रेजुएट है पर बेकार है, कोई किसी छोटे मोटे रोजगार में लगा है। अपने फ़ुरसत के समय में वे नाटक खेलने की योजना बनाते हैं। न उनके पास साधन है, न सुविधाएं है, है तो केवल एक उमंग नाटक खेलने की। जैसे तैसे मिल कर वे नाटक खेलने का निर्णय करते हैं। मालूम होता है खेलने लायक़ नाटक हिन्दी में है ही नहीं। पुस्तकालयों, किताबों की दुकान, प्रख्यात नाटककारों के दरवाज़े सैकड़ों चक्कर लगाने के बाद कोई नाटक मिला तो प्रश्न आता है स्त्री पात्रों का। जैसे तैसे रिहर्सल शुरू हुये। हाथ पाँव जोड़ कर कोई हाल मिल भी गया। पर्दे कहाँ से आवें? रुपये कहाँ से मिलें? पब्लिसिटी कैसे हो? टिकट कौन खरीदेगा? और यह लीजिए ठीक आठ रोज पहले एक लड़की बीमार पड़ गयी। पेन्टर ने उधार काम करने से इनकार कर दिया। हाल के मालिक अपने पूरे परिवार के लिए ८० पास चाहते हैं और वह भी आगे की दोनों पंक्तियों का—परिचय-पत्रिका छपने में एक लड़के का नाम नीचे छप गया और वह रूठ कर बैठ गया है। इसी वक्त ५०० रुपये की जरूरत है, कहाँ से मिलें? पर यह उत्साह, उमंग, लगन और अथक परिश्रम। सभी विपत्तियों में सीना तान कर नाटक खेला ही गया। अच्छा! इनका यह प्रथम नाटक था? खूब किया इन लड़कों ने। बड़े लगन के लोग हैं। मगर तीसरे दिन। स्थानीय पत्र में किसी पत्रकार ने निन्दा के तीन कालम लिख डाले। बहुत खोजने पर कारण मालूम हुआ। उस पत्रकार का कोई दूर का नातेदार उस नाटक के प्रमुख

अभिनेता से किसी बात पर दो साल पहले नाराज हो गया था। बेचारे लड़के ! उनके सारे उत्साह पर पानी फिर गया।

यह संकट किसी एक स्थान या किसी एक मण्डली का नहीं है। हर छोटे बड़े नगर में नाटक खेलने वालों को कमोबेश ऐसी ही दिक्कतों का सामना करना पड़ता है पर रंगमंच के जग में यह जो साधारण व्यक्ति है, साधनहीन, पदहीन, सत्ताहीन किन्तु रंगमंच के प्रति अदम्य उत्साह और अमिट उमंग वाला—यही साधारण व्यक्ति रंगमच का सच्चा उन्नायक है। राष्ट्र के द्वारा रंगमंच के उत्थान की जो भी सुविधाएँ हैं उसका सच्चा अधिकारी यही साधारण व्यक्ति है—न कि वेतनभोगी राजकर्मचारी या निहित स्वार्थों वाली, बड़े नाम वाली छोटे कामवाली संस्थाएँ। इस व्यक्ति तथा इस जैसे न जाने कितने साधारण लोगों ने, छात्रों ने, बेकार ग्रेजुएटों ने, क्लर्कों ने, छोट मोटे रोजगारियों ने, निर्धन साहित्य-प्रेमियों ने दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, काशी, पटना, कलकत्ता नागपुर तथा अन्य कितने ही हिन्दी केन्द्रों में रंगमंच की परम्परा कायम रखी है—केवल अपने उत्साह के बल पर। आधुनिक हिन्दी रंगमंच का जो भी थोड़ा बहुत इतिहास है वह वास्तव में इन्हीं लोगों के त्याग और अथक परिश्रम का इतिहास है। सम्मान का अधिकारी वह है, सुविधाओं का अधिकारी वह है। रंगमंच के क्षेत्र में अगर कोई असाधारण है तो इन्हीं साधारण लोगों के बल पर असाधारण है, बड़ा है तो इन्हीं छोटे लोगों के बल पर बड़ा है।

इसीलिए आज मामा वरेरकर तथा उनकी कोटि के जिन भी साहित्यकारों का स्वर सत्ता के कानों तक पहुँच सकता है उनकी यह जिम्मेवारी है कि इस रंगमंच-प्रेमी साधारण व्यक्ति को सुविधाएँ मिलें। नाटककारों और इन रंगमंच-प्रेमियों के बीच एक स्वस्थ सहयोग कायम हो सके, दोनों एक दूसरे को समझ सकें, दोनों मिलकर जनता से सम्पर्क स्थापित कर सकें। सही दिशा में उसकी रुचि का विकास कर सकें, उसके सुख दुख को चित्रित कर सकें, उसके बहुमुखी जीवन के आयामों और गहराइयों के प्रति सामान्य जन को जाग्रत कर सकें। उन पर शासन की ऐसी छाया न पड़े जो उनका अपना सहज विकास कुण्ठित कर उन्हें गलत दिशाओं में, जनहित के नाम पर राजहित की दिशाओं में मोड़ दे। वे प्रजा के दृष्टिकोण से निर्भीक देख सकें। वेतनभोगी अफ़सर या निहित स्वार्थों वाले संस्थाधीशों के द्वारा यह काम सम्भव नहीं है। इसके लिए संगीत-नाटक-अकादमी तथा उसके संरक्षकों को ऐसा उपाय सोचना है कि वे रंगमंच के क्षेत्रों में जो स्वस्थ रक्तसंचार करना चाहते हैं वह केवल हृदय प्रदेश के सीमित वृत्त में ही न

बंध जाये । अन्यथा रंगमंच का आन्दोलन उस पंगु व्यक्ति की भाँति रह जायगा जिसका हृदय तो सक्रिय है किन्तु आँखें दृष्टिहीन हैं, हाथ पाँव लुन्ज हैं, होंठ हिलते नहीं—क्योंकि वहाँ तक रक्त पहुँच नहीं पाता और रंगमंच-प्रेमी, अभिनयोत्सुक, साधनहीन साधारण व्यक्ति......वास्तव में यही रंगमंच का हाथ पाँव, दृष्टि और वाणी है । सभी साधनों और सुविधाओं की सार्थकता इसी में है कि वे उस तक पहुँच सकें ।

होना और करना

अभी उस दिन मेरे एक दिल्लीवासी मित्र ने एक दिलचस्प घटना सुनाई। वहाँ किसी एक बहुत बड़ी राजकीय दावत में एक अत्यन्त सुशिक्षित, साथ ही कुछ विलक्षण प्रकृति वाले एक चिन्तन-प्रवण सज्जन एक अमेरिकन के बगल में बैठे हुए थे। दावत खत्म होते-होते वह तीव्र आवेग और उलझी हुई लयों वाला संगीत शुरू हुआ जिसे अमेरिकन "जाज" कहते हैं। उसके प्रारम्भ होते ही अमेरिकन के मुख पर आभा दौड़ गयी हाथ पाँव में थिरकन दौड़ने लगी पर बिलकुल उसी अनुपात में इस वहशत भरी ध्वनियों की भूलभुलैया को सुनते ही भारतीय सज्जन के माथे पर शिकन दौड़ गयी, कुछ बेचैनी सा अनुभव करने लगे और जरा हैरत से उन्होंने अमेरिकन बगलगीर की ओर देखा। उसने अपनी रौ में कहा—"क्यों कैसा लगा आपको हमारा जाज ?"

"क्या है इसमें ?" भारतीय सज्जन ने कुछ उपेक्षा से कहा।

"इसमें ? मैं तो ज्यों ही इसे सुनता हूँ, मेरी सारी निष्क्रियता भाग जाती है। मुझे अदम्य प्रेरणा मिलती है, उठने की, कुछ अच्छा काम करने की!"

"अच्छा काम करने की या अच्छा आदमी होने की ?"

"होने की नहीं, काम करने की !" अमेरिकन ने पहले निश्चयपूर्वक कहा, फिर क्षण भर रुक कर बहुत हैरत से बोला— "पर—होने और करने में क्या कुछ अन्तर है ?"

पता नहीं इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया गया ? पता नहीं वह अमेरिकन इस होने और करने के अन्तर को समझ सका या नहीं ? मुझे लगता है वह न समझ सका होगा, और इसे न समझ सकने की असमर्थता केवल उसकी नहीं है, यह इस पूरी भौतिक सभ्यता की असमर्थता है जो सिर्फ करने पर आधारित है होने पर नहीं : और करने (मानवीय सक्रियता) के भी केवल उस अंश पर जिसमें मनुष्य भौतिक साधनों से जूझता है, उन्हें दास बनाता है, और उनका दास बनता चला जाता है । क्या हो सकता था, क्या हो गया, इस पर विचार नहीं होता है, यह तो वह सभ्यता है जिसमें उसने क्या क्या कर डाला—चाकू बनाने से अणुबम बनाने तक—इसकी माप होती है । इसका परिणाम यह होता है कि वस्तुतः मनुष्य स्वयं अच्छा है या बुरा यह प्रश्न ही निरर्थक पड़ने लगता है । वह भी एक मशीन है । मशीन न अच्छी होती है न बुरी वह तो अपना काम करती है । वेद छापने वाली मशीन पण्डित नहीं होती, अश्लील साहित्य छापने वाली मशीन कामुक नहीं होती । उसकी अच्छाई बुराई की जाँच तो इससे होती है कि वह छापती कैसा है, काम कैसा करती है ? बस ! आन्तरिक दृष्टि से न वह नैतिक है न अनैतिक । वह विनैतिक है । आन्तरिक आधार पर उसमें नैतिकता की कोई मान्यता नहीं ! धीरे-धीरे मनुष्य को मशीन बनाया जा रहा है । आन्तरिक रूप से वह कुछ हो पाया है या नहीं—क्या कोई जीवन दर्शन उसने अपने लिये चुना है ? नहीं । उसके लिए यह काम तथा कथित प्रजातन्त्री देशों में दूषित समाज-व्यवस्था से उद्भूत अनिवार्यताओं ने चुना है और तथाकथित साम्यवादी देशों में शासन करने वाले राजनीतिक दल ने चुना है । वह दोनों के हाथ में मशीन है ।

और मान लीजिए, किसी दिन मशीन में विवेक और आत्मबल आ जाय तो ?, वह वेद छापे, पर अश्लील साहित्य छापते समय ठप हो जाया करे, चले ही नहीं ? तो व्यवसायी का तो बड़ा नुकसान हो ? या प्रजा का दुख सुख तो छापे पर राजा, या डिक्टेटर या नेता का झूठ, निर्लज्जताभरा वक्तव्य छापने से इन्कार कर दे तो ? तो शासन कै दिन चलेगा ? सौभाग्य से मनुष्य में विवेक और आत्मबल है, वह अपना शोषण और दुरुपयोग किये जाने से इन्कार कर देता है, विद्रोह कर बैठता है ।

इस प्रकार मनुष्य का 'होना', उसकी आंतरिकता, उसका मनोबल, उसका विवेक इस मशीन सभ्यता के लिए एक समस्या बन कर आता है। उसके रास्ते में चट्टान सरीखा पड़ता है। चट्टान है तो उसे डाइनामाइट से उड़ा दो। विवेक और आत्मबल है तो उसे कुण्ठित, कर दो, नष्ट कर दो, समूल उच्छेद कर दो। भय दिखाकर, आतंक फैलाकर, मनुष्य को भूखे रख कर, या असीम वैभव का लोभ दे कर, इतिहास को झुठला कर, स्वतन्त्र चिन्तन को वर्जित कर या मानवता, आजादी, प्रजातन्त्र जैसे पवित्र शब्दों का कुटिल प्रयोग कर उसके 'होने' और 'करने' में खाई उत्पन्न कर दो। वह मूलतः शांतिप्रेमी होगा पर आपके इंगित पर खुशी खुशी सेना में भरती हो जायगा, या वह अन्दर से कल्पनाहीन, कलाहीन, सृजनहीन, शून्य होगा पर आपके इंगित पर न्यूयार्क की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ खड़ी कर देगा या स्टालिन की क़द्देआदम प्रतिमा बना कर खड़ी कर देगा। मानवीय यथार्थ के होने और करने की अन्तर्ग्रथित प्रक्रिया को चीर दिया गया है। यह मानवीय अणु भी तोड़ दिया गया है, प्रक्रिया वही है प्रयोगशाला चाहे अमेरिका में हो या रूस में, या इनकी देखा-देखी भारत में, फ्रांस में, चीन में या ब्रिटेन में। वास्तविक नैतिक मूल्यों से शून्य मनुष्य के होने या करने के बीच एक खाई—जिससे वह विघटित हो जाय—जिससे उसका मनुष्यपन मुरझाए और मशीनपन पनपे।

मनुष्य के विघटन का यह संकट चिंतन के सभी क्षेत्रों के लिए एक चुनौती था पर साहित्य के लिए इसका महत्त्व सबसे अधिक था क्योंकि उसका 'एप्रोच' दर्शन, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र सभी से पृथक् है···वह मानवीय यथार्थ को रागात्मक स्तर पर उसकी समग्रता में ग्रहण करता रहा है।

वही यथार्थ आज इस खाई के कारण इतना जटिल हो गया है कि मनुष्य अपने ही घर में निर्वासित है और अपने ही अन्दर विभाजित है। पर उससे अधिक दयनीय स्थिति तो यह है कि वह अपनी स्थिति से अवगत नहीं है। उसका विवेक नष्ट हो गया या अवगत होकर भी वह कुछ कर नहीं पाता—उसका साहस नष्ट हो गया है। शैक्सपियर ने हेमलैट के चरित्र की जो कल्पना की थी उसमें ऐसे ही विघटन की समस्या थी और उस समय भी हेमलैट ने प्रवंचनाओं और कुण्ठाओं के बीच यह जाना था कि होने के बिना करना तो एक प्रवंचना और धोखा भी हो सकता है—असली प्रश्न तो है—"टू बी ऑर नाट् टु बी।" पर आज तो स्थिति और भी गम्भीर है तब तो एक हैमलेट था आज तो लगता है कि मनुष्य मात्र को कुण्ठित और अपदस्थ करने का षडयन्त्र सफल हो गया है सत्ताधारियों ने उसकी विवेक शक्ति को रखेल बना लिया है—

पर उसकी ओर से बोलने वाला कोई नहीं, अधिकांश कलाकारों, चिंतकों, साहित्यिकों ने मनुष्य को पीछे छोड़कर सत्ता से समझौता कर लिया है। कटु मानवीय यथार्थ से अपना मुँह फेर लिया है। मनुष्य के होने या करने के बीच विघटन की जो अथाह अन्धेरी खाई पड़ गयी है उसमें उन्हें झाँकने से डर लगता है। अभी उस दिन विदेश यात्रा करके लौटे हुए हिन्दी के एक लेखक से पूछा गया, "विदेशी लेखकों और कलाकारों से मिलकर आपके मन पर सबसे पहला प्रभाव क्या पड़ा ?" वही उत्तर मिला कि "वे सोचने से भागते हैं, यथार्थ को देखना नहीं चाहते।" जब वहाँ के कलाकारों और चिंतकों का यह हाल है तब उस बेचारे साधारण नागरिक का क्या हाल हुआ होगा जिसके सामने अकस्मात् उस दावत में संगीत सुनते-सुनते होने और करने का अन्तर एक समस्या बन कर खड़ा हो गया था।

अब प्रश्न यह है कि जब तक साहित्य मनुष्य के इस वर्तमान विघटन को चुनौती के रूप में स्वीकार नहीं करता तब तक क्या उसे अपने को मानववादी साहित्य कहने का अधिकार है ? या जब तक इस यथार्थ से आँख चुराता है और होने या करने के किसी एक एकांगी पक्ष को चित्रित करके संतोष कर लेता है तब तक क्या उसे यथार्थवादी कहा जा सकता है। पिछले दिनों हिन्दी के एक शीर्षस्थ आलोचक ने यथार्थवाद से—'आतंकित' होकर एक लेख लिखा था कि आधुनिक साहित्य में उदात्त आदर्शों की कमी है। पर जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ यथार्थवाद के नाम पर आने वाले अधिकांश साहित्य का मुख्य दोष यह नहीं है कि उसमें आदर्श की कमी है बल्कि यह है कि उसमें यथार्थ की कमी है, लेखक यथार्थ में पूरी तरह उतरा नहीं, उसके वास्तविक अर्थों को पहचान नहीं पाया या यथार्थ के एक खण्ड को ही उसने समग्र मानने का आग्रह किया—ऐसे दोष अक्सर मिल जाते हैं। इसी प्रसंग में अक्सर हिन्दी के समकालीन लेखन में निर्माण-परक साहित्य की बात उठती रहती है। निर्माण को यथार्थ का विरोधी तो मान ही लिया जाता है—किन्तु पता नहीं कैसे यह भी समझ लिया जाता है कि निर्माण-परक दृष्टिकोण के अर्थ हैं वह दृष्टिकोण जो सरकारी निर्माण योजनाओं का समर्थन करता हो। निर्माण का यह अर्थ सरकार के सूचना एवं प्रचार विभाग के शब्दकोष में भले ही दिया गया हो किन्तु साहित्य के क्षेत्र में निर्माण का अर्थ होता है ऐसा दृष्टिकोण अपनाना जो मनुष्य के विघटन को उसके सही परिप्रेक्ष्य में समझे उसका परिहार करे और उसे मनोबल और विवेक से पुनः संयुक्त कर ऐसी कर्मठता की ओर प्रेरित करे जो उसे अपनी नियति का संचालक बना सके। इसके लिए वह किसी कल्पित श्रद्धा या आस्था की ओट में

छिप कर नहीं बैठता उसकी श्रद्धा भी यथार्थ मे गुथी हुई है उसका धर्म भी पारलौकिक नहीं, पार्थिव है। इसीलिए वह मानवीय यथार्थ से आंखें नहीं चुराता इस विघटन, अनस्तित्व और असामंजस्य की स्थितियों में गहरे उतर कर बुनियादी प्रतिमान खोजता है और साहसपूर्वक अपनी उपलब्धियों को प्रस्तुत करता है।

किन्तु क्या दार्शनिक की भाँति केवल तर्क के द्वारा, वैज्ञानिक की भाँति केवल वस्तुपरक बौद्धिकता के द्वारा, राजनैतिक नेताओं की भांति केवल स्वार्थपरक अवसरवादिता के द्वारा या आश्रमवासी महर्षियों की भाँति केवल एकांत आत्म चिन्तन के द्वारा इस जटिल मानवीय यथार्थ तक पहुँचा जा सकता है? शायद नहीं। साहित्यकार जब तक दिव्यात्मा या नेता होने का दम्भ करता रहेगा तब तक उसे चाहे अष्ट सिद्धि नव ऋद्धि भले मिल जाय लेकिन मानवीय यथार्थ की झलक तो नहीं ही मिल सकती। वह तो उसे तभी मिलेगी जब वह यह सारे लबादे फेंक कर प्रजा के साथ आ खड़ा होगा, साधारण जन, छोटे परिवेश में अपनी असंगतियों से संघर्ष करते हुए छोटे आदमी से अपनापन स्थापित करेगा उसी की नियति को अपनी नियति मानेगा, उसी के प्रति अपने दायित्व का अनुभव करेगा। अपने आन्दोलनात्मक साहित्य के द्वारा उसे केवल करने की ओर प्रेरित करना और उसके होने की उपेक्षा करना, और उसके होने में जो अमित सम्भावनाएं निहित है उनको उद्‌घाटित करना उतना ही हानिकर है जितना उसके यथार्थ से मुँह फेर कर उसे कल्पित श्रद्धा, झूठी अलौकिकता और अयथार्थ स्वर्ण सन्देशों के जाल में उलझा देना। इसके बजाय अपदस्थ जन सामान्य को पुनः प्रतिष्ठित करना, उसके होने और करने मे जो भी व्यवधान है—आर्थिक शोषण के कारण, राजकीय नियन्त्रण के कारण, मृत रूढ़ियों के कारण, या स्वतः उसके अहंकार, भीरुता या अज्ञान के कारण—उन पर खुल कर साहसपूर्वक चोट करना उसके विवेक और मनोबल को पुनः जाग्रत कर उसे जीवन्त प्राणी बना कर उसे आन्तरिक सामन्जस्य और बाह्य समृद्धि की ओर ले चलना यही निर्माण की वास्तविक दिशा है। इसे ही साहित्यकार के दायित्व के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

पुरानी प्रतिमाएँ : नये प्रतिमान

"पिछले दिनों लिखा गया अधिकांश सोवियत साहित्य निष्प्राण है। ये लेखक यथार्थ से कोसों दूर हैं, ये सोवियत जीवन को जानते ही नहीं!" ये शब्द मेरे नहीं हैं। ये शोलोखव के शब्द हैं—वह शोलोखव जिसने डान के तटप्रदेश पर लिखे अपने तीन उपन्यासों से अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की थी और जो बीस साल से चुप बैठा था, बिलकुल चुप—और बीस साल बाद बोला भी तो ऐसा वाक्य कि वे सोवियत लेखक जो राज्य के खर्च पर स्टेट फ़ार्म, बाँध, कारखानों और बन्दरगाहों में गये, जिनके एक एक उपन्यास की लाखों प्रतियाँ छपीं, जिनको स्टालिन पुरस्कारों से लाद दिया गया—उनके समस्त आभा-मण्डल को शोलोखव ने उसी एक वाक्य से निस्तेज कर दिया!

पर जिस दिन यह खबर मैंने अखबार में पढ़ी, उस दिन मेरे मन में जाने क्यों वह वर्तालाप घूम गया जो मराठी के ख्यातिप्राप्त कवि बोरकर से एक दिन हुआ था। बात पिछले साल की है जब गोआ आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। बोरकर गोआ के निवासी हैं और वहाँ से उन्हें आजन्म निर्वासन दे दिया गया है। बात गोआ से शुरू हुई और पता नहीं कैसे कविता पर आ टिकी। उदास पहाड़ी शाम, सामने काफ़ी का ठण्डा प्याला, और बोरकर के संघर्षाहत माथे पर रूखे कवि-सुलभ बाल! ख़ासी गर्मागर्म बहस के बाद हम लोग इस नतीजे पर पहुँचे कि व्यक्ति की अपनी निजी मुक्ति बेमानी है, निरर्थक है, जब तक जनसाधारण की

मुक्ति नहीं होती। मैंने प्रामेथ्यूज़ पर लिखी हुई अपनी एक कविता का हवाला देते हुए कहा—'प्रामेथ्यूज तब तक चट्टानों से बँधा रहेगा, जब तक अग्नि सब के हृदयों में जागकर सबको प्रामेथ्यूज़ नहीं बना देगी।'

बोरकर अपने ही विचारों में डूबा था। अकस्मात उसने काफ़ी का प्याला अलग हटाकर कहा—"सुनो तुम्हें अपनी कविता सुनाता हूँ।" कविता जवाहरलाल पर थी। "जवाहर तुमने हमारी प्रतिष्ठा समस्त संसार में बढ़ाई है, तुमने हमें ऊँचा उठाया है, तुम हमारे देश के मुकुट हो! "...मैं सुनता रहा, वही चारणात्मक प्रशस्ति! पर बोरकर अकस्मात रुका, उसके स्वर में एक अजीब सा कम्पन आया और उसने कहना शुरू किया—'लेकिन सुनो जवाहर, तुम्हारी ताक़त बढ़ी पर हम पंगु होते गये। तुम्हारा यश बढ़ा पर उस अभिमान में हम निष्क्रिय होते गये। तुम ऊँचे उठे, पर तुम्हारी उठान में भूलकर हम अपनी राह पर भटक गये...हम कैसे ऊँचे उठें? हम कैसे सक्रिय बनें? हमारी पंगुता, हमारी निष्क्रियता, हमारी रिक्तता का परिहार कैसे हो?" (भाव यही थे—शब्द मुझे याद नहीं!) कविता एक बहुत बड़े दर्द की छाप छोड़ गई—एक राष्ट्रव्यापी संकट, इतिहास के एक मोड़ पर छलक जानेवाली जनव्यापी वेदना! जनसाधारण वहीं रहता है, नीचे कीचड़ में कीड़ों की तरह बिलबिलाता हुआ—विवेक, बुद्धि, सुख-सुविधा, स्वाभिमान, प्रतिष्ठा, स्वतन्त्र-विकास के समस्त अधिकारों से रहित; और उसका काम रह जाता है केवल जयध्वनि करना किसी एक आदर्श नायक के लिए—जो हेलिकॉप्टर की तरह ऊँचा उठता जा रहा है!

और यह संकट केवल रूस का रहा हो ऐसा मैं नहीं मानता। १९ वीं शताब्दी में समस्त संसार में जनसाधारण की सहज मानवीयता के प्रति जो आस्था जागी थी वह हर जगह दिग्भ्रमित हुई, कहीं किसी सिद्धान्त के नाम पर कहीं किसी सिद्धान्त के नाम पर। सोवियत रूस में तो व्याधि दोहरी थी। वहाँ विरोध करने की स्वतन्त्रता भी नहीं थी।

मेरे विचार में यहीं लेखक को एक साहसपूर्ण चुनाव करना था—वह किसके प्रति उत्तरदायी रहेगा, उस ऊँचे उठते नायक के प्रति, या नीचे छटती हुई सामान्य सहज मानवीयता के प्रति? मध्ययुग ने नायकों की प्रतिष्ठा साहित्य में की थी। आधुनिक युग ने उन्हें निर्वासित कर दिया। आधुनिक दृष्टि ने जन-साधारण की सहज मानवीयता को अपना बुनियादी प्रतिमान माना; साधारण

मनुष्य, छोटे लोग, यश, गौरव, सत्ता, शक्ति से हीन लोग, पर सच्चे इतिहास-निर्माता—उनका संघर्ष, उनकी पीड़ा, उनका संकट, उनकी उपलब्धि—सहज मानवीय धरातल पर ! पर निर्वासित नायक तो फिर-फिर लौटता है, नया-नया रूप धारण करता है। ठीक है, तुम जन-साधारण की बात करते हो मैं भी तो जन-नायक हूँ। मेरी प्रशस्ति गाओ—चाहे जनता के नाम पर गाओ। मेरी पूजा करो, चाहे जनकल्याण के नाम पर करो। और यही प्रसुप्त विवेक वाला लेखक धोखे में आ जाता है, वह जन-सामान्य के प्रति अपने दायित्व को भूल जाता है। जन-साधारण दूसरे स्तर पर जी रहा है, उसका यथार्थ, नायक के यथार्थ से पृथक है, कहीं-कहीं विरोधी भी है। हर जगह जनसाधारण मुखर भी नहीं है, वह चुपचाप सह रहा है, कहीं-कहीं तो उसका विवेक भी सुला दिया गया है, चाहे तानाशाही तरीकों या प्रजातांत्रिक तरीकों से; पर लेखक है कि इस जटिलता को समझना नहीं चाहता—और वह पुरानी नायक-पूजा के खोखले, झूठ और मानवविरोधी प्रतिमानों के पीछे दौड़ जाता है। धीरे-धीरे उसका आन्तरिक लगाव युग के जटिल यथार्थ से टूट जाता है और उसकी कृति निस्तेज पड़ने लगती है। ऐसी स्थिति में कोई भी ऐसे साहित्य के बारे में पूछ सकता है—"काहे री नलिनी तू कुंभिलानी !" तो उसे बताया जा सकता है कि नलिनी का दोष यह था कि वह सभी पांखुरियाँ खोलकर ऊपर चमकते हुए सूर्य का स्वागत तो करती रही पर उसकी जड़ कहीं गंदे, नीचे बैठे हुए, कुरूप कीचड़ से उखड़ तो नहीं गयी, इसका उसे ध्यान ही नहीं रहा !

ऐसा समस्त साहित्य चाहे वह सोवियत रूस में लिखा गया हो, या उसके बाहर; साम्यवादी साँचे में हो या गाँधीवादी साँचे में या किसी अन्य साँचे में, वह समकालीन साहित्य होते हुए भी आधुनिक नहीं है। आधुनिक साहित्य-दृष्टि तो पूरी शक्ति से इस वैषम्य पर चोट करती रही है। साधारण, छोटे, महत्वहीन, नगण्य मनुष्य की मुक्ति, उसकी निहित संभावनाओं का विकास, उसकी चेतना पर जकड़ी हुई राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक जंजीरों को खोलकर उसे अपने विवेक, अपनी जीवन-पद्धति से व्यापक सत्य की निजी उपलब्धि करने का अवसर देना, उसके यथार्थ के सारे जटिलतम तानेबाने को ठीक-ठीक समझना और किसी काल्पनिक भविष्य नहीं वरन इसी कटुतम वर्तमान में सामान्य मानव की नियति को संस्कार दे सकने की क्षमता, यही नये साहित्य की मानववादी प्रकृति है। इसके अतिरिक्त जो कुछ, चाहे वह मानव-के नाम पर ही हो, वह मानव-विरोधी है। क्योंकि उसमें हम चाहे किसी नायक को ऊँचा उठाते रहें या किसी ईश्वर की पूजा करते रहें पर जन की मुक्ति उससे

नही होनी है, वह छोटा ही बना रहेगा, पशुधर्मी बना रहेगा।

जब उसकी मुक्ति के लिए नया लेखक आगे आता है, विशेषत. हमारे देश में तो बहुत कुछ तोड़ना अनिवार्य हो जाता है। मध्ययुग का वह नायक जो असाधारण है, दिव्य है, विशिष्ट है, अवतारी पुरुष है, जन से पृथक है, जिसकी ारणा भारतीय मानस में गहरी पैठी है, उसे तोड़ना है। आधुनिक युग में भी वह नायक जो नये-नये रूप धारण कर बार-बार प्रकट हो जाता है, उसको भी अनावृत करना है! इतना ही नही बल्कि उससे उद्भूत जो मूल्यो की पुरानी परम्परा है, जिनका इस युग के साधारण जन के जटिलतम यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है, उन्हे बदलना है। सुन्दर, उदात्त, पवित्र, कल्याणकारी-की नयी व्याख्याएँ करनी है। नया लेखक आधुनिक यथार्थ की कसौटी पर नायक के स्थान पर प्रजा को स्थापित करता है। ऐसा नहीं है कि नये लेखक में आस्था नहीं है, पर यह अवश्य है कि उसमें बहुत सी ऐसी चीजों के प्रति आस्था नहीं है, जिनमें पुराने संस्कार वालों की आस्था है।

हिन्दी में कविता, कहानी, उपन्यास तथा समीक्षा के क्षेत्र में आज यह प्रक्रिया बहुत तेजी से घटित हो रही है। वे जो पुराने संस्कारवाले है इस चहल-पहल से तो अवगत हैं पर इसकी वास्तविक प्रकृति नहीं समझ पा रहे हैं। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य पर 'आजकल' के एक विशेषांक में डा नगेन्द्र का महत्वपूर्ण लेख इसका उदाहरण है। उन्होंने एक परिधि बनाई है—पंत, सियारामशरण गुप्त, नवीन, दिनकर, बच्चन, नगेन्द्र और सुमन की। उन्होंने यह तो माना कि इस परिधि के बाहर "एक ऐसा कवि वर्ग है जो सक्रियता की दृष्टि से पिछड़ा नहीं है और अपने ढंग से जीवन की व्याख्या भी करने का दावा करता है," किन्तु फिर भी उनके मत में "यह काव्य-प्रवृत्ति नास्तिकता पर आधृत है," अतः सत्य या ग्रहणीय नहीं।

स्पष्ट है कि नया लेखक जो कर रहा है उससे वे असन्तुष्ट है। पर फिर वे चाहते क्या हैं? एक महाकाव्य जिसके नायक का स्वरूप-विवेचन वे कवि रवीन्द्र के शब्दों में करते हैं—चिरपरिचित मध्ययुगीन नायक-पूजा के शब्द—"महत् व्यक्ति", "महापुरुष," "परम-पुरुष," "जिसके मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गम्भीर अन्तर्देश में रहती है, जिसका शिखिर मेघों को भेद कर आकाश में उठता है।" पर वे यह नहीं समझ पाते कि नया लेखक इसी को तो ध्वस्त कर रहा है—इस महत् व्यक्ति को, इस परम पुरुष को जो उसकी दृष्टि में अयथार्थ है, प्रवंचना है,

झूठे प्रतिमानों का जनक है, और उसके स्थान पर वह प्रतिष्ठित कर रहा है— "आज का मनुष्य—धक्के देकर गर्भ से निकाला हुआ ऋषिपुत्र !" (राजेन्द्र किशोर, नयी कविता. २)। वे जो पुरानी मनोवृत्ति के हैं, इस पर चौक सकते हैं ! परमपुरुष के स्थान पर ये गन्दे, छोटे, संस्कारहीन, अज्ञातकुलशील लोग ? वे इनकी राह भी रोकते हैं, पर नया तो ललकार कर कहता जाता है, "सिंहासन खाली करो कि जनता आती है !" (यह बात दूसरी है कि जिसने यह पंक्ति लिखी हो बाद में उसने सिंहासन के विषय में अपनी धारणा बदल दी हो, पर इससे उसकी उक्ति का सत्य तो नहीं बदलता !)

नगेन्द्र जी के इस लेख में एक और दिलचस्प बात है। जिस परिधि को उन्होंने स्वीकृति दी है उसकी उपलब्धि के बारे मे उन्होंने क्या कहा, वह ज्ञातव्य है। विश्वमैत्री, जिसके बारे में लिखी गयी कृतियों में "अधिकांश का काव्यगुण नगण्य नहीं है" (यदि आप इसे प्रशंसा मान सकें।) २. देश का विभाजन—परन्तु हिन्दी के "अधिकांश समर्थ कलाकारों ने इस लज्जा को छिपाने का प्रयास किया है।" (अर्थात् उस पर कुछ नहीं लिखा।) ३. गाँधी जी का जीवन-मरण—"जिस पर लिखी अधिकांश कविताएँ विषय की गरिमा के अनुरूप नहीं बन पाईं।" (अर्थात् वे हलकी और महत्वहीन हैं !) अगर यह उपलब्धि है तो शून्य क्या होगा ?

एक कहानी बचपन में सुनते थे एक बुढ़िया लाई तीन हांड़ी ! दो तो टटी-टाटी थीं, एक में पेंदा ही नहीं ! जिसमें पेंदा नहीं उसमें पकाए तीन चावल ! दो तो जल गये, एक पका ही नहीं। जो पका नहीं उस पर बुलाए तीन ब्राह्मण. . . इस प्रकार कहानी चलती जाती है। फिर भी पुराने संस्कारों का यह आस्तिक समीक्षक हिम्मत नहीं हारता—कहता है—"प्रश्न किया जा सकता है कि इसकी उपलब्धि क्या है ? इसका उत्तर यह है कि अभी वर्तमान काव्य की अन्तश्चेतना का निर्माण हो रहा है। आज नहीं तो कल कोई समर्थ कवि अपनी अमृतवाणी में इसका उद्गीथ करेगा।"

सदाशयपूर्ण आशाएँ अच्छी चीजें हैं बशर्ते उनका आधार यथार्थ पर हो; किन्तु यथार्थ तो यह है कि 'महत् का उद्गीथ' करने वाला प्रतिमान आज झूठा पड़ गया है। नया साहित्य तो बोरकर के शब्दों में उसकी जयध्वनि करना ही नहीं चाहता जो ऊँचे उठ रहा है वह तो उसे देखता है जो नीचे छूट गया है—पंगु और निष्क्रिय है—और अगर जरूरत पड़ी तो वह महत्, दिव्य और

परम को भी इसी लघु और सामान्य की कसौटी पर कसने के लिए नीचे खींच लायेगा ।

उदाहरण के लिए एक सर्वथा नये लेखक फणीश्वरनाथ रेणु का सर्वप्रथम उपन्यास 'मैला आँचल' लिया जाय । यह उपन्यास इसलिए भी कि नगेन्द्र जी ने इसका जिक्र अपने लेख में किया है, किन्तु इसके स्थायी मूल्य पर उन्हें संदेह है । वस्तुतः रेणु ने अपने इस उपन्यास में महत् और उदात्त नायक की प्रतिमा को खण्ड-खण्ड कर डाला है । नहीं कहा जा सकता कि इस उपन्यास का केन्द्रीय व्यक्तित्व कौन है ? संभवतः कोई नहीं ! एक विशाल अंचल का सारा जीवन छोटी-छोटी चित्रात्मक झलकियों के द्वारा दिखाया गया है, जो बीच-बीच में विवरणों के द्वारा जोड़ दी गयी हैं । जिनमें अगणित छोटे-छोटे पात्रों की उलझी हुई शृंखलाएँ एक विशाल मानवीय वितान का आभास देती हैं । किन्तु इस भीड़-भाड़ में भी पात्रों का व्यक्तित्व खोया नहीं है, हर छोटे से छोटे व्यक्ति की अपनी प्रतिष्ठा है, पर कोई ऐसा महत् और उदात्त नहीं है जो सबको आच्छादित कर ले । तीन प्रमुखपात्र, डाक्टर, बालदेव और बागनदास भी केवल एक सामान्य मानवीय स्तर को ही विशिष्ट कोण से उभारते से प्रतीत होते हैं । बालदेव और बामनदास का चरित्र तो और भी रोचक है । दोनों ही गांधीवादी आन्दोलन के सक्रिय कार्यकर्ता रहे हैं । गांधीवाद जिस दिव्यता के पीछे दौड़ता था, वह दिव्यता इन दोनों सामान्य व्यक्तियों के जीवन में मात्र मरीचिका सिद्ध होती है । बालदेव जो तरुण है, संयमी है, आदर्शवादी है, उसी दिव्यता की वंचना में लक्ष्मी कोठारिन जी को भारतमाता का प्रतिरूप जानकर अन्त में एक हास्यास्पद प्रेम-दुर्घटना का शिकार होता है । बामनदास महात्मा गांधी के पत्रों को सहेजकर रक्खे हुए हैं; किन्तु जिस त्याग और बलिदान को दिव्य नायक का गुण माना जाता था और यह माना जाता था कि आदर्श नायक के ये दोनों गुण इतिहास को बदल सकते हैं, वे आधुनिक प्रसंग में बामनदास के लिए व्यर्थ सिद्ध होते हैं । चोरबाजारी के माल से भरी हुई बैलगाड़ियाँ उसको कुचलती चली जाती हैं—उनके नीचे वही टूटता है इतिहास का क्रम नहीं । परम और दिव्य, सामान्य की कसौटी पर कितने विवश या निशक्त, कभी ट्रैजिक और कभी हास्यास्पद साबित होते हैं इसके ज्वलन्त उदाहरण बालदेव और बामनदास हैं । यदि मैं यह कहूँ कि इस नये लेखक ने गांधीवाद युग के दिव्य-नायक की रिक्तता आज के संदर्भ में दिखायी है, तो अनुचित न होगा ।

हर नायक के साथ एक दल भी रहता है जो उसे प्रतिष्ठित करता है । नया

लेखक जो लघु, सामान्य या नगण्य को ही उठाना चाहता है वह जन की कसौटी पर विना किसी अपवाद के इन सभी नायकों और उनके दलों को कसता है और उनके खोट का उद्घाटन करता है। रेणु ने एक सीमित अवधि और सीमित अंचल के जीवन को सहज मानवता के धरातल पर परख कर इस नए प्रतिमान को स्थापित किया है। इसीलिए इस उपन्यास का एक ऐतिहासिक महत्व माना जा सकता है। इसकी भाषा शैली तो अपूर्व है ही, उस अंचल के जीवन के जटिल यथार्थ का, उसकी अनगढ़ कुरूपता और रसात्मक सौन्दर्य, दोनों ही का सूक्ष्म बोध रेणु को पूरी तरह है। वैसे प्रथम उपन्यास की कुछ स्वाभाविक कमजोरियाँ भी हैं। कथ्य की अपेक्षा कथन के चमत्कारपूर्ण ढंग की ओर असंतुलित झुकाव। कहीं-कहीं मँजाव की कमी और भावुकता का अतिरेक भी, पर नयी दिशा में नये मानवीय प्रतिमानों पर दृढ़ रहकर इस लेखक ने जो उपलब्धि प्रस्तुत की है उसने कथा-साहित्य की नयी दिशा के प्रति जागरूक पाठक के मन में एक बहुत बड़ी आशा का संचार किया है।

इसी भूमिका में श्री इलाचन्द्र जोशी के नये उपन्यास 'जहाज का पंछी' की चर्चा शायद और भी रोचक सिद्ध होगी। जोशी जी के दृष्टिकोण में नए प्रतिमानों के प्रति एक प्रशंसनीय जागरूकता और कुछ कुण्ठापूर्ण दुराग्रहों का एक विचित्र-सा सम्मिश्रण सदैव मिलता है। पिछले युग के महत् और दिव्य नायक के प्रति एक अरुचि उनमें प्रारम्भ से रही है। मुझे याद है कि एक बार प्रतीक में प्रकाशित मेरे लेख में पुंस्त्वहीन कथा-नायकों की विवेचना से कुछ अंशों में सहमत होने पर भी उसके निष्कर्षों की अवैज्ञानिकता की ओर उन्होंने संकेत किया था। आज मैं भी उन निष्कर्षों को केवल अंशतः ही स्वीकार पाता हूँ। जोशी जी ने तो बाद में "जिप्सी" तक में यह प्रश्न उठाया। उनके एक पात्र ने कहा है—"वीर नायकों की गाथा लिखने वालों की कमी नहीं है, पर दुर्बल स्वभाव वाले व्यक्तियों को कथानायक बनाने का सौभाग्य अकेले मुझे ही है।"

पर प्रश्न केवल दुर्बल स्वभाव वाले व्यक्ति का ही नहीं है। प्रश्न यह है कि खुद नए प्रतिमान की कसौटी पर वह खरा उतरता है या नहीं। ऐसा तो नहीं है कि मन में तो वह वीरतापूर्ण कृत्य, चमत्कार, शिरोपेच और राजछत्रों में विश्वास करता है, पर चूंकि उसे आज के युग में वह सब उपलब्ध नहीं है, अतः वह अपने को ऐसा शापग्रस्त राजकुमार समझता है जो किसी तरह ज़ालिम मालिकों की नौकरी में दुख के दिन काट रहा है, पर किसी राजकुमारी

के मिलते ही उसका सुन्दर स्वरूप प्रकट हो जायगा और शेष जीवन वह सुख-पूर्वक राजपाट करते हुए बितायेगा। जोशी जी का नायक इसी प्रवृत्ति का परिचय देता है।

इसका एक कारण है। जोशी जी ने छायावाद का काफ़ी विरोध किया है, पर उसके संस्कारों से वे मुक्त नहीं हो पाये। फिर कवि रवीन्द्र की धारणाओं का भी उनपर गहरा प्रभाव है। ऐसा व्यक्ति आज के युग में और भी अन्तर्मुखी हो जाता है। जब कभी बाहर निकलता भी है तो केवल चोट करने के लिए।

"जहाज का पंछी" की यही सुन्दरता है और यही उसकी कमजोरी भी। जोशी जी का अन्तर्मुखी नायक बाह्य जीवन की बहुत-सी असंगतियों का बड़ा तीखा और मार्मिक विश्लेषण करता है। अस्पताल के प्रसंग में सामन्तवादी दया का खोखलापन, भादुड़ी परिवार के प्रसंग में इसी दया का उघड़ा हुआ रूप, जिसमें झूठी मानवता के 'कान्शेन्स' को साफ़ रखने की कामना, लाण्ड्री के उस कमरे का वर्णन करते हुए पूँजीवादी ह्रासोन्मुख मूल्यों पर आधारित फ्री वर्ल्ड की धारणा की आन्तरिक रिक्तता—इनको बड़े ही सफल ढंग से चित्रित किया है। पुराने परम्परागत मूल्य इस तरह विस्थापित हो चुके हैं कि उनके पुराने प्रसंग में आज जो एक ठग धूर्त मनोवृत्ति वाला है, वही शायद ईमानदार है—यह दिखाने का बड़ा साहसपूर्ण प्रयास जोशी जी ने किया है। यह सचमुच वह ऐतिहासिक विद्रोही भावना है पुरानी प्रतिमाओं को तोड़ने की वह प्रक्रिया है जो नए को स्थापित करने के लिए आवश्यक है।

परन्तु····यहीं पर एक बहुत गहरी फिसलन है। विपिन अग्रवाल की एक मनोरंजक कविता है, जिसकी पहली तीन लाइनें हैं—

"ईश्वर तुम सबसे बड़े हो
मैं तुमसे छोटा हूँ
बाकी सब मुझसे छोटे हैं"······

यहीं पर उनमें यह भाव जागता है—"बाक़ी सब मुझसे छोटे हैं"—और यही भावना "जहाज का पंछी" के नायक के चरित्र और कृतियों में एक असत्य का, अयथार्थ का आभास देने लगती है। अपने को बड़ा सिद्ध करने के लिए वह रसोइया होते हुए भी साहित्य-गोष्ठी में रवीन्द्र पर लम्बा चौड़ा भाषण दे आता

है । यह भावना उभरते ही उसके हाथ से यथार्थ के सूत्र छूटने लगते हैं और उस का अवचेतन मानस अभावपूर्ति के दिवास्वप्नों की सृष्टि करने लगता है जिसे वह यथार्थ घटनाओं के रूप में पाठक के सामने रखने लगता है । इस उपन्यास के चरित्र-चित्रण, घटना-चयन के जो भी दोष है, वे केवल शिल्पगत नहीं हैं उनके मूल में यह मनोवृत्ति हे, यथार्थ भूलकर दिवास्वप्न बुनने की। दु:ख तो यह है कि यही मनोवृत्ति अन्त में विजय पाती है। समस्त ह्रासोन्मुख सभ्यता की सीवन उधेड़कर रख देने के लिए कृतसंकल्प विद्रोही अन्त मे बीस लाख की सम्पत्ति वाली एक रमणी का आश्रय लेता है और मानवता के कल्याण के लिए एक आश्रम स्थापित करता है—एक आश्रम जो आज से बीसों वर्ष पहले प्रेम-चन्द ने "सेवासदन" में खुलवाया था—पर जो आज के प्रसंग में एक बचकाना समाधान मालूम होता है ।

संक्रमण काल में पुराने और नये प्रतिमानों का संघर्ष कैसे अद्भुत स्तरों पर होता है, इसका ज्वलन्त उदाहरण जोशी जी का यह उपन्यास है। 'सुबह के भूले', या 'जिप्सी' की तुलना में यह शायद इसीलिए ज्यादा पठनीय और सफल है; क्योंकि इसमें स्थान-स्थान पर नया स्वर उभरता है; पर दुखद बात यह है कि इसमें भी अन्त में जीतता वही है जो पुराना है—निष्प्राण है ।

"पुराने संस्कारों वाला आस्तिक समीक्षक" सोचता है कि आज नहीं तो कल 'महत् का उद्गीथ' अमृतवाणी में होगा, पर कल जो होगा सो होगा । पर आज ही जो लघु को भूलकर महत् की प्रशस्ति करने लगता है, अकस्मात् उसकी वाणी का अमृत क्यों समाप्त हो जाता है ? इसमें प्रश्न क्या केवल लेखक के रचना-कौशल का ही है या नये पुराने प्रतिमानों का भी है ? सारे कौशल और पच्चीकारी के साथ पुराने प्रतिमानों से ही चिपके रह कर कोई भी लेखक, किसी भी युग में क्या प्राणवान साहित्य की सृष्टि कर सकता है ? यह प्रश्न विचारणीय है ।

अनास्था

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में इधर जब से "गतिरोध" शब्द का फैशन उठ गया है तब से एक दूसरा शब्द अक्सर सुनाई देने लगा है—"अनास्था।" किसी से मिलिए, कोई समीक्षा पढ़िए—"अमुक चीज लिखी गयी है—उसमें बल है, पर भाई बड़ी अनास्था है उसमें ? थोड़ी सी आस्था भी होती······" पहले तो केवल कविता के सिलसिले मे यह शब्द सुनाई पड़ता था, इधर कहानियों के सिलसिले में सुनाई पड़ने लगा है। मैं नहीं जानता कि हिन्दी का समीक्षा-साहित्य शब्दों की दिशा में इतना विपन्न है, या और कोई कारण है कि ज्यों ही एक नया शब्द सुन पड़ा कि समीक्षक बड़े उत्साह से उसे सही गलत हर जगह चस्पाँ करने लगता है। कभी समझ बूझ कर कभी नय शब्दाविष्कार के उत्साह में और कभी कभी शुद्ध भावावेश में। यही भाग्य इस बेचारी अनास्था का भी रहा है।

कहानियों के प्रसंग में मैंने यह देखा कि कई समीक्षकों का तो यह रुख रहा है कि जो उनके सिद्धान्त हैं, जो उनकी राजनीति है, जो उनके विचार हैं, उस पर कहानीकार की आस्था है या नहीं ? अगर नहीं तो वह अनास्थावान है। एक समीक्षक को तो मैंने पाया कि उनकी समीक्षा उनकी कुशाग्रबुद्धि और रसज्ञता का भी परिचय देती है, एक विशिष्ट कथाकार की कृति से वे बहुत प्रभावित भी थे किन्तु उनका दुःख यह था कि वह कथाकार उनकी राजनीति का अनुसरण नहीं करता, उसकी अलग नीति है, वह अनास्थावान है अतः आज वह अच्छा लिख

ले तो लिख ले, पर अगर वह कुपथ से पांव नहीं हटाता तो कल जरूर बुरा लिखेगा।

पास के चौराहे पर नीम के नीचे दरी बिछाकर एक बहेलिया चन्दन टीका लगा कर विप्रवेश धारण कर बैठता है। बगल में एक पिंजड़ा, पिंजड़े में एक पक्षी, सामने कुछ बन्द लिफाफों की ढेरियाँ। एक इकन्नी देने पर पिंजड़ा खुलता है, पक्षी बाहर निकलता है, ढेर में से एक लिफाफा चुन कर अलग कर देता है। उसमें ग्राहक का भाग्य लिखा है—"मुकदमे में आपकी जीत होगी।"—"वो आपको मिलेगी विश्वास रक्खो।"—"यात्रा पर जायेंगे।" तीर्थयात्रियों की भीड़ लगी है, सब आस्था में विभोर और विस्मय से स्तब्ध हैं। कल्पना करता हूँ कि अगर कोई अभागा कथाकार इस भीड़ में आजाय और यह धन्धा देख कर हँसने लगे, लोगों को बताये कि यह सब फ़रेब है, रोज़ी रोज़गार का डौल है तो क्या होगा। निस्सन्देह विप्र महोदय तो जान देने जान लेने पर तुल जायेंगे। यह अनास्था और कमाई के दिन? भुजा फटकार शाप देंगे—"बड़ा कथाकार बनता है—आज गर्व में फूला-फूला, कल भगवान तुझे दण्ड देंगे।"

हिन्दी की समकालीन समीक्षा में बार-बार जो नवलेखन से अनास्था की शिकायत की जाती है दुर्भाग्यवश उसकी प्रकृति बहुत कुछ बहेलिया-विप्र के शाप जैसी है। समीक्षक ने मानव-भविष्य के बारे में जो आस्थाएँ लिफाफे में बन्द कर सामने सजा रक्खी हैं उनको अगर लेखक फ़रेब मानता है, अगर वह मानता है कि मनुष्य का भविष्य एक अत्यन्त जटिल प्रक्रिया में उलझा है जिससे उसका विवेक और उसकी जिजीविषा बार-बार उलझती है, जूझती है, टूटती है, बिखर-बिखर जाती है, फिर बनती है फिर......और इस तरह मानवीय यथार्थ बहुत सरल सीधी रेखा नहीं है.........तो लेखक अनास्थावान है क्योंकि यथार्थ पर उसकी पकड़ समीक्षक से ज्यादा गहरी है, ज्यादा सूक्ष्म है। ऐसे प्रसंगों में समीक्षक द्वारा अनास्था शब्द का जो आरोपपूर्ण प्रयोग निस्सन्देह दबे हुए आक्रोश का परिचायक होता है। उसको विशेष महत्त्व नहीं देना चाहिए।

पर विचारणीय प्रसंग वे हैं जहाँ अनास्था का आरोप कुछ सैद्धान्तिक आधारों पर लगाया जाता है। अक्सर यह देखा जाता है यदि लेखक की कृति में प्रचलित मान्यताओं का खण्डन है, विक्षोभ और कटुता है उसका रुख ध्वन्सात्मक है तब भी अक्सर समीक्षक उस पर अनास्था का आरोप लगाने लगता है। अगर यह नकारात्मक दृष्टिकोण, यह ध्वन्सात्मक रुख ही अनास्था है तो

देखना यह होगा कि क्या इस अनास्था का कोई उपयोग है या यह पूर्णतया अमंगलकारी है। पिछले दिनों संसार के पत्रों में जर्मन नाटककार बर्तोल्त ब्रेख्त की खासी चर्चा रही है। वह कम्युनिस्ट था, पूर्वी बर्लिन में रहता था पर साम्यवादी गैरसाम्यवादी सारे योरोपीय लेखक एकमत होकर उसे विश्व का सर्वश्रेष्ठ जीवित नाटककार मानते हैं। आज से तीन दशक पूर्व जब उसने लिखना शुरू किया था तो इतना ध्वंसात्मक रुख था उसका कि यूरोप के जो अभिजात्य संस्कार के लोग थे वे ब्रेख्त का नाम सुनते ही दांत पीसने लगते थे। इधर उसने फिर एक वक्तव्य में कहा—मैंने तो एक ही सत्य जीवन से पाया है—"अनास्था पहाड़ों डिगा देती है।" कहावत थी "फेथ (आस्था) मूवज़ माउन्टेन्स", उसने पाया कि आस्था इसके लिए समर्थ नहीं, यह काम तो अनास्था के द्वारा ही हो सकता है। जिस समय पाखण्डपूर्ण प्रवचनकर्ता झूठे नक़ाब लगा कर, मन में पाप, गन्दगी, स्वार्थ, मुनाफे और कलंकित समझौते छिपाकर ऊपर से जनसामान्य को उदात्त आस्थाएँ वितरित करने लगें उस समय नकारात्मक चित्रण और ध्वंसात्क रुख मानवीय विवेक की प्रथम आवश्यकता बन जाता है। अभी उस दिन जियोवैनी पैपिनी द्वारा लिखी हुई जीसस की जीवनी पढ़ रहा था। एक अध्याय है जिसमें जीसस जैरूसलम के मन्दिर को ध्वस्त करने पर तुल गये हैं। पैपिनी ने लिखा है—"वह मन्दिर पवित्रतम का आवास है, पूजा का स्थल है, भक्तजन का आश्रय है पर जीसस उसे ध्वस्त करने को कटिबद्ध है। मन्दिर की मीनारों और तहख़ानों में चढ़ावे की अतुल सम्पति भरी है जिनका बाजार लगता है, ख़रीद फरोख़्त होती है। उसके सहन में दरबारी इकट्ठे होते हैं, हक़ीम दवाएँ बेचते हैं, वेश्याएँ घूमती हैं। दलाल टोह में रहते हैं, अन्धेरे कोनों में अभिसार होते हैं। जीसस इस मन्दिर को ध्वस्त करने को कटिबद्ध है। उसने उन पुराने प्रतिमानों को पहले ही ढहा दिया है जिन पर काली शिलाओं का स्वर्णतोरणों वाला मन्दिर खड़ा है। इस मन्दिर को ध्वस्त करने के पहले वह इसके चारों ओर लगे हुए बाजार को ध्वस्त करेगा। उसने रस्सियों के टुकड़े बट बट कर कोड़ा बना लिया है और निर्ममता पूर्वक दायें-बायें कोड़े चलाता हुआ वह भीड़ में से रास्ता बना रहा है! आस्था के मन्दिर को ध्वस्त करता हुआ यह अनास्था-पुरुष कौन है? अनन्त क्षमामूर्ति जीसस। इस रूप में क्यों? क्योंकि यह इस समय अनिवार्य है क्योंकि ऐसी ही अनिवार्यता में तो तुलसी ने कहा था "तुलसी मस्तक तब नवे धनुषवाण ल्यो हाथ" और विनय की मूर्ति राम उस दिन भी तो धनुष बाण लेकर ध्वन्स पर तुल गये थे, जब उन्होंने देखा कि "विनय न मानत जलधि जड़" वह समुद्र जो पिता है, वरुण है, गुरुजन है सोने की पाप नगरी लंका को घेर कर लहरा रहा है, विनय का उस पर कोई असर नहीं। तब रुख बदला और

उसे राह देनी पड़ी। पूजा ने राह नहीं दिखाई, आस्था ने राह नहीं दिखाई, विनय ने राह नहीं दिखाई—अनास्था ने राह दिखाई। ब्रेख्त ठीक कहता है—अनास्था पहाड़ों को डिगा देती है, समुद्र को चीर कर राह बना देती है।

अतः यह कथन कि अनास्थापूर्ण कृतियों में जो नकारात्मकता या ध्वन्सात्मकता है इसीलिए वह अनुपयोगी है नितान्त भ्रमात्मक साबित होता है। सत्य कम से कम आज के प्रसंग में इसके बिलकुल विपरीत ही सिद्ध होता है। पर एक समस्या यहाँ पर उठाई जा सकती है और मैं समझता हूँ अनास्था के प्रसंग में वही एक मात्र प्रश्न है जो संगत है जो विचारणीय है। यह जो पुराने झूठे पड़े हुए प्रतिमानों, परिवेशों, व्यवस्थाओं के प्रति नकारात्मकता है, जो ध्वन्सात्मकता है वह अपने ही में स्वतःसिद्ध तो नहीं है। आखिरकार लेखक किसी नवीन, अधिक प्राणवान प्रतिमान, परिवेश, या व्यवस्था की प्रतिष्ठा के ही लिए तो यह ध्वन्स करता है। यह प्रक्रिया भी सोद्देश्य होनी चाहिए।

यहाँ तक तो बात ठीक है पर यहीं पर समीक्षकों का एक दुराग्रह उभरने लगता है जो मेरे मत में अवैज्ञानिक है। इस सोद्देश्यता को सिद्ध करने का एक ही उपाय समीक्षकों को समझ में आता है। या तो कहानी के अन्त में, "नया विहान" या "मानवता की विजय" आदि दो चार ऐसे वाक्यांश जरूर रख दिए जाँय चाहे उसकी संगति शेष कहानी के यथार्थ से बैठती हो या न बैठती हो। या कथाकृति में कहीं न कहीं आध पाव निराशा में चुटकी भर किरण मिला कर मानवता की खरल में घोट पीस कर एक घूँट अर्क-श्रद्धा के साथ घट-घट पी जाने का विधान जरूर हो। पर कथाकृति अपनी सोद्देश्यता सिद्ध करने के लिए अभिधा का सीधा लट्ठमार तरीका न अपना कर व्यंजना का अप्रत्यक्ष ढंग भी अपना सकती है, पता नहीं क्यों ध्वन्सात्मक अनास्था में यह बात समीक्षक समझ कर भी भूल जाता है। मेरे विनम्र मत में ध्वन्सात्मक अनास्थामय कथाकृति अपनी सोद्देश्यता एक दूसरे ढंग से सिद्ध करती है। वह उपदेशक, राजनीतिक नेता या स्कूल मास्टर की तरह अन्त में भाषण नहीं देती, वह पाठक के मर्म में प्रवेश कर उसे अन्दर से बदलती है। पाठक कोई छोटा बच्चा नहीं कि उसे गोद में उठा कर आस्था के पालने में डाल दिया जाय। अगर कथाकृति की मूल संवेदना पाठक को झकझोर कर उसकी भाव-प्रक्रिया को उद्बुद्ध करती है, उसके रागबोध को विस्तृत करती है उसकी जर्जर, पतनोन्मुख, मरणासन्न आस्थाओं को ध्वस्त करती है और उसके विवेक को सक्रिय बना कर उसे अपनी आस्था खुद ढूँढ़ने की दिशा में प्रवृत्त कर देती है तो मेरे विचार में कथाकृति अपना दायित्व पूरा कर

देती है, अपनी सोद्देश्ता सिद्ध कर देती है। पूछा जा सकता है कि ऐसी कथाकृति सारी पुरानी मान्यताएँ ध्वस्त कर बिना एक सुनिश्चित आस्था का विधान किये, पाठक को एक गहन शून्य में नहीं छोड़ देती जहाँ से निस्तार असम्भव प्रतीत होने लगता है ? मेरा उत्तर है—"नहीं"। हो सकता है कुछ समय तक ऐसा लगे पर अन्त में उसकी सोद्देश्यता सिद्ध होकर रहती है। अगर आप क्राइसेन्थमम उगाने के शौकीन होंगे तो मेरी बात आसानी से समझ जायेंगे। उसका एक बहुत बड़ा फूल खिलाने के लिए माली नीचे की सभी टहनियाँ काट देता है, इधर-उधर लगने वाली सभी कलियाँ तोड़ देता है। कुछ दिन तक वह ध्वस्त पौधा खड़ा रहता है। पर बाद में उसमें ऊपरी सिरे पर बड़ी सी कली फूटती है, जिसका फूल बहुत सुन्दर, बहुत बड़ा होता है। होता है यह कि टहनियाँ काट देने से, अनावश्यक कलियाँ तोड़ देने से सारा प्राणद्रव उसी एक बिन्दु की ओर प्रवाहित होने लगता है और फिर अपने आप वहाँ एक बड़ा सा फूल खिलता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कोई जरूरत नहीं कि कथाकार कहानी के अन्त में पाठक पर आस्था थोप ही दे, उसने अगर अनावश्यक जर्जर तत्वों को ध्वस्त कर उसके समस्त विवेक और भाव-प्रक्रिया को उद्बुद्ध करके छोड़ दिया है तो आस्था का फूल एक न एक बिन्दु पर तो खिलेगा और वह स्वार्जित आस्था बाह्यारोपित आस्था से ज्यादा बड़ी, ज्यादा ताजी, ज्यादा प्राणमयी होगी क्योंकि वह पाठक की निजी उपलब्धि होगी।

पर शर्त यह जरूर है कि कथाकार आस्था का स्पष्ट निरूपण चाहे न करे पर कहीं न कहीं उसके मन में मनुष्य के लिए बहुत गहरा लगाव जरूर होना चाहिए। पर यहाँ पर यह भी बता देना आवश्यक है कि किसी भी लगाव का ढंग सदा एक ही नहीं होता। वह नकारात्मक भी हो सकता है अतः यह सोच लेना कि जो कथाकृति बहुत ध्वन्सात्मक है या कटु है उसमें मनुष्य के प्रति रागात्मक लगाव है ही नहीं—यह गलत है। पूर्वजों की साक्षी है—"तुलसी अपने राम को रीझि भजौ कै खीजि।" तथाकथित अनास्था वाला कथाकार खीज कर भजता है। भक्ति-सूत्रों में तो जहाँ साधक अपनी आस्था, श्रद्धा अर्पित करता है वहीं उससे कहा गया है कि अपना क्रोध और अभिमान (ध्वन्स और अनास्था) भी अर्पित कर दे, क्योंकि वे भी सार्थक हैं, वे भी ग्राह्य हैं। यह मैं मानता हूँ कि ऐसी कथाकृतियों में यह आशंका होने लगती है कि लेखक की यह खीज प्यार की न हो कर प्रतिशोध की तो नहीं है। लेखक न केवल उन परिवेशों और प्रतिमानों को ही ध्वस्त कर रहा है जो मनुष्य को कुण्ठित करते हैं बल्कि वह स्वतः मनुष्य को ही क्षत-विक्षत करने पर तुल गया है। ऐसी कई कृतियों को पढ़कर मेरे मन में भी ऐसी आशंकाएं उठी

है किन्तु सहानुभूति से विश्लेषण करने पर मुझको अधिकतर यही मिला है कि लेखक की चरम कटुता और गहनतम निराशा भी उसके आहत मनुष्य-प्रेम का ही परिवर्तित रूप मात्र सिद्ध हुई।

मनुष्य-प्रेम ऐसी कृतियों मे कितने जटिल भावस्तर पर छिपा होता है इसका एक बड़ा सूक्ष्म विवेचन मोपाँसा की एक कहानी में मैंने एक बार पढ़ा था। उस कहानी का नायक सरकस का एक बूढ़ा कलाकार है जो लकड़ी के एक तख्ते के सामने अपनी पत्नी को खड़ा कर उस पर छूरा फेंकता है। हरबार छूरा पत्नी के कण्ठ, कन्धे, बाँह या पावों को बिलकुल छूता हुआ लकड़ी में धँस जाता है। आध इन्च इधर या उधर निशाना पड़ा कि उसके प्राण गये। इस खेल को दिखाते दिखाते उसे तीस साल हो गये हैं। वह अपनी बड़ी कर्कशा पत्नी से न केवल ऊब गया है वरन घृणा करने लग गया है। इतना कटु हो गया है वह कि दिन रात यह सोचता है कि काश एक बार, सिर्फ उसका फेंका हुआ छूरा पत्नी के गले में या छाती में धँस जाय। पिछले पाँच वर्ष से रोज शाम को खेल के समय जब वह छूरा उठाता है तो होठ मींचकर, दांत पीस कर पत्नी के हृदय पर निशाना साध, घृणा और प्रतिशोध की सारी शक्ति लगा कर छूरा फेंकता है, आवेग से आँखें बन्द कर लेता है पर जब आँख खोलता है तो पाता है कि छूरा सदा की भाँति बदन को छूता हुआ निकल गया है और वह अछूती अनाहत खड़ी मुस्करा रही है। वह फिर घृणा और प्रतिशोध से पागल होकर छूरा उठाता है और...वह रोकर स्वीकार करता है पिछले पाँच साल से प्रतिदिन यह होता है, पर पता नहीं या तो वह प्रेम अब भी जीवित है, या तीस वर्ष से रोज बचा बचा कर छूरा फेंकने से उसके हाथ इस तरह अभ्यस्त हो गये है कि वह अपनी ही कला के सामने पराजित हैं—वह मार सकता ही नहीं।

मैंने अधिकतर यही पाया है कि वे अनास्थामयी कृतियाँ जो बड़ी सशक्त, प्रभावशाली लगती हैं पर उनमें इतनी कटुता, क्षोभ और निराशा होती है कि वे कलाकार के मानव प्रेम के प्रति भी आशंकित कर देती है अन्त में वह ऐसी ही छुरा सिद्ध होती हैं जो घृणा और प्रतिशोध से उठाया गया है पर पता नही वह कैसे सदा की भाँति आध इन्च बचकर निकल जाती है, मनुष्य को क्षत विक्षत नही करती। मार तो सकती ही नहीं। और अन्त में उनकी उस चरम घृणा में कहीं बड़ी जटिल ग्रन्थि के रूप में आहत प्रेम ही छिपा मिलता है। वैसे यह खतरनाक है कि इतनी जटिल ग्रन्थियाँ लेखक के मन में बन जाय इतना बड़ा नर्वस टेन्शन अन्त में लेखक को तोड़ भी देता है, ऐसा अक्सर पाया गया है। और इस

सक्रांन्ति काल में कितने ही ऐसे, प्रतिभाशाली लेखक आस्था-अनास्था के ऐसे ही विचित्र मानसिक संघर्षो के दबाव मे टूट गये है. . .मायकावस्की, स्टीफन ज्वीग मण्टो, निराला । पर मेरी निश्चित धारणा है कि संक्रान्ति-काल में चुनौती स्वीकार कर टूट जाना ज्यादा सम्मानजनक है बनिस्बत इसके कि जटिल यथार्थ की उपेक्षा कर, छोटे छोटे समझौते, सतही आस्थाएं, शार्टकट वाले समाधानों द्वारा अपने तथा अपने पाठकों को भुलावा देने का प्रयास करना । उससे कथाकृति में कमजोरी ही आती है। ऐसी झूठी आस्थाओं की तुलना में तो तथाकथित नाकारात्मक "एप्रोच" यर्थाथ को अधिक जटिल और सूक्ष्म रूप में ग्रहण कर सकने में समर्थ हो पाता है । और पाठक की समस्त रागात्मक प्रक्रिया और उसके विवेक को आस्था की खोज की दिशा में अधिक उद्बुद्ध करने में सफल होता है और ऐसी कृतियों में किसी न किसी बिन्दु पर आस्था में अनास्था की गुणात्मक परिणति परिलक्षित होती है।

अनास्था और आस्था की इस अन्तर्ग्रंथित प्रक्रिया को इन गहरी जटिलताओं में समझने का प्रयास वर्तमान हिन्दी समीक्षा में कहीं भी हुआ हो, ऐसा मुझे नही याद आता । इसलिए बिना समझे इन शब्दों का जितनी बहुलता से प्रयोग होने लगा है उससे कभी कभी बड़ी मनोरंजक स्थितियां उत्पन्न होती रहती है । विशेषतया यदि कृति में कहीं भी समीक्षक को ऐसे तत्व मिलते हैं जिन्हें वह अनास्था कहता है तो बड़े धैर्य और सहिष्णुता से यह परख लेना होगा कि यह मनुष्य के प्रति उसके आन्तरिक लगाव का ही आहत नकारात्मक रूप तो नहीं है ? और तथाकथित आस्था के बारे में यह जाँच करनी होगी कि यह कथाकृति के यथार्थ में से उद्भूत है, आरोपित तो नहीं। यह भी देखना होगा कि यह आस्था विवेक पर आधारित है या नहीं ? अगर कहीं किसी रूप में भी वह मानव-विवेक को कुण्ठित करती है तो वह निश्चय ही अन्ध-श्रद्धा की ओर ले जायगी । विवेक का ह्रास होते ही बहुत सी ऐसी व्यावसायिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलने लगता है जो समीक्षा या साहित्य-चिंतन का वेश बनाकर ढेरों काग़ज़ी आस्थाएँ, भविष्य-वाणियाँ और शार्टकट समाधान लिफाफों में बन्द कर साहित्य के राजमार्ग पर आ बैठती हैं, किन्तु आस्था के नाम पर वे जो कुछ देती हैं उनका मानव नियति के लिए कभी महत्व नहीं रहा है ।

●



उसने कहा था : एक संस्मरण

पिछले दिनों श्री विजयदेवनारायण साही के कई प्रतिमाभंजक लेखों की खासी चर्चा रही है और मुझे तो यह जानकर विस्मय और कुछ-कुछ आनन्द भी हुआ कि कई क्षेत्रों में उनका नाम बिलकुल हरिसिंह नलवा के वजन पर लिया जाता है। जहाँ तक मैंने तथा उनके सभी मित्रों ने उन्हें निकट से जाना है, उनका व्यक्तित्व नलवा के विपरीत है। पर अब जनश्रुति तो जनश्रुति—फैली तो उसे रोकना किसके वश की बात है! वैसे यह जरूर है कि प्रयाग की साहित्यिक जनता के सामने एक बार वे बहादुर फ़ौजी सरदार के रूप में आये हैं, पर वह भी स्टेज पर केवल घण्टे भर के लिए—और उसमें भी अन्त में उन का प्रेमी रूप ही सामने आया, आतंककारी रूप नहीं।

यह चमत्कारपूर्ण घटना थी—'उसने कहा था' कहानी का नाटकीय रूपान्तरण जिसे श्री सुमित्रानन्दन पंत के निर्देशन में 'परिमल' द्वारा आयोजित एक विराट पर्व के अवसर पर प्रस्तुत किया गया था और यह न समझिये कि मैं उस मौके पर दर्शकों में बैठा साही जी के इस रूप पर मन्द-मन्द मुस्कुरा रहा था। मुझे भी एक उधार का फ़ौजी ओवरकोट पहनकर, भयानक दाढ़ी मूँछ लगा कर वजीरासिंह बनना पड़ा था और कहानी के अनुसार यद्यपि बार-बार लहनासिंह बने हुए साही जी हुक्म देते थे—"वजीरा पानी पिला!" पर पानी की सच्ची जरूरत मुझे थी क्योंकि साही जी तो कई बार रंगमंच पर उतार कर अपना

सिक्का जमा चुके थे—मैं ही नौसिखिया था और सामने इतनी जनता को देख कर मेरी ही जुबान तालू से चिपकी जा रही थी—पर मैं एक घूँट पानी भी पी सकूँ इसका कोई विधान उस स्क्रिप्ट में नहीं था और साही जी थे कि घायल प्रेमी लहनासिंह बने थे और मिनट-मिनट पर पानी पी रहे थे।

"उसने कहा था' का अभिनय हम लोगों की अत्यन्त सुखद स्मृतियों मे से एक है। असल में परिमल-पर्व के उस अवसर पर यह सोचा जा रहा था कि एक ऐसा नाटक प्रस्तुत किया जाय जिसमें परिमल के सदस्य ही अभिनय करें और वे ही उसका निर्देशन करें। पंतजी ने निर्देशन करने का भार लिया और पहले श्री जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' चुना गया। उसके लिये अभिनेताओं का चुनाव जब पंत जी कर रहे थे तब की एक मनोरंजक घटना मुझे याद है। एक विशिष्ट वार्तालाप कई लोगों से पढ़वाया जा रहा था ताकि उसके लिए अभिनेता चुना जा सके। कई लोग असफल हुए। अन्त में श्री जगदीश गुप्त से कहा गया कि वे ही पढ़ें। वे तैयार नहीं थे पर सामूहिक आग्रह। अन्त मे जब उन्होंने पढ़ा तो चारों ओर सन्नाटा। संवाद बोलकर वे झिझकते हुए आकर फिर कुर्सी पर बैठ गए पर सन्नाटा बदस्तूर बना रहा। अन्त में पंतजी ने सन्नाटा तोड़ा और बहुत गम्भीरता से बोले—"जगदीश जी को अभी रहने दीजिए। आखिर कोणार्क के विशाल मन्दिर का पार्ट कौन करेगा?" और ठहाकों से कमरा गूँज उठा। पर सिर्फ वही नहीं, एक-एक कर हम सभी उस परीक्षा में असफल उतरे और अन्त में 'कोणार्क' करने का विचार त्याग दिया गया।

और दूसरा कोई छोटा अभिनेय नाटक नहीं मिला और जो ऐसा भी हो कि जिसमें स्त्री-पात्र न हों। अब तो खैर इलाहाबाद का हिन्दी रंगमंच इस रूढ़ि को तोड़ चुका है पर उस समय ऐसा नहीं था। अन्त में कई चिन्तापूर्ण दिन और निराशापूर्ण रातों के बाद अकस्मात् यह विचार कौंध गया कि 'उसने कहा था' का नाटकीय रूपान्तरण क्यों न खेला जाय। पर उसमें स्त्री पात्रों की समस्या कैसे सुलझे?

अन्त में एक हल खोजा गया। रंगमंच में अभिनय के साथ-साथ छाया-नाट्य का तत्व जोड़ा गया और लहनासिंह का बचपन में बालिका से मिलने वाला, 'तेरी कुड़माई हो गई' वाला दृश्य, सूबेदारनी से मिलने वाला दृश्य और अन्त के स्मृति-दृश्य छाया-नाट्य में दिए जायें और शेष सब आगे रंगमंच पर अभिनीत

हों। इसके लिए एक तो दृश्यों के Sequences ऐसे चुने गए जिसमे अभिनीत दृश्यों और छाया-नाट्य का गुम्फन ऐसा हो कि वह नाटक का संवेदनात्मक धरातल विकसित करता चले और अस्वाभाविक भी न लगे और दूसरे रंगमंच की व्यवस्था ऐसी करनी पड़ी कि सारा नाटक एक ही सेट पर और एक ही दृश्य में सम्पूर्ण हो और एक बार भी सामने का पर्दा न खींचना पड़े नहीं तो नाटक के प्रभाव की एकसूत्रता विच्छिन्न हो जाती !

अन्त में रंगमंच का आयोजन इस प्रकार हुआ कि स्टेज पर तीन ओर खूब ऊँचे-ऊँचे बालू के बोरे रख-रख कर खाई का रूप प्रस्तुत किया गया और खाई की जो पीछे वाली दीवार बनाई गई वह कमर तक ऊँची थी और उसके ऊपर उसमें खूब ऊँचाई तक एक पतला हल्की नीलिमा लिए हुए मार्कीन का पर्दा लगा दिया गया। उसके पीछे तख्त लगा कर इतना ऊँचा एक और मंच बनाया गया जिस पर पर्दे के पीछे छाया-नाट्य के अभिनेता काम कर सकें। जब आगे के रंगमंच पर प्रकाश होता था और अभिनय होता था तो वह पर्दा नीले आकाश का आभास देता था और जब छाया-नाट्य दिखाना होता था तब आगे की बत्तियाँ बुझा दी जाती थीं, खाई में घना अन्धकार हो जाता था और पर्दे के पीछे की एक वह बत्ती जला दी जाती थी जो छाया-नाट्य में सहायक होती थी। उस समय वही प्रकाश छाया-नाट्य के पर्दे का काम देता था। लेकिन ये छाया-नाट्य के दृश्य तो अधिकतर स्मृति-चित्र थे जो लहनासिंह आगे खाई में बैठा-बैठा सोचता था अतः कभी-कभी नाटक में सजीवता लाने के लिए यह भी सोचा गया कि इन स्मृतिचित्रों के दौरान में लहनासिंह के मुख पर आने वाले भावों को भी प्रदर्शित किया जा सके तो उसका प्रभाव अत्यन्त मार्मिक होगा। पर यह किया कैसे जाय। वर्तमान लहनासिंह तो आगे खाई में बैठा है और खाई की बत्तियाँ बुझ गई हैं और उसमें घना अन्धकार है अतः उसका चेहरा दीख नहीं पड़ता, और अगर आगे की एक भी बत्ती जल गई तो छाया-नाट्य का सारा प्रभाव खत्म हो जायगा। परदे पर छायाएँ विकीर्ण हो जायँगी ! इसका तरीका यह सोचा गया कि जब छाया-नाट्य हो रहा हो उस समय बाएँ बाजू से एक तेज टार्च की रोशनी सिर्फ लहनासिंह के मुख पर डाली जाय ताकि स्मृतिचित्रों की अनुभूति के समय उसके मुख का भाव परिवर्तन भी दर्शकों द्वारा लक्षित किया जा सके।

जहाँ तक मुझे स्मरण है छाया-नाट्य के प्रकाश की व्यवस्था डा० जगदीश गुप्त ने और बाएँ बाजू से प्रकाश की व्यवस्था डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने की

थी। लहनासिंह की भूमिका में साही जी का अभिनय आज तक लोगों को भूल नहीं पाता, और जब नाटक समाप्त हुआ तो बहुत से दर्शक ऐसे थे जिनके नेत्र आर्द्र थे और स्त्रियाँ तो अधिकतर फूट कर रो पड़ी थीं। वजीरासिंह मैं था, बीमार बोधासिंह का अभिनय डा० रघुवंश ने किया था और लपटन साहब का अभिनय श्री गोपीकृष्ण गोपेश ने। छाया-नाट्य के दृश्यों में सूबेदारनी और लहनासिंह का अभिनय कुमारी कृष्णा वर्मा और उमा वर्मा ने किया था और वस्तुतः छाया-नाट्य के भावपूर्ण दृश्यों ने लहनासिंह के परिपक्व अभिनय की मार्मिकता को द्विगुणित कर दिया था।

जो दोष रह गए थे उसमें एक तो ऐसा था जिसका पूरा ज़िम्मा मेरा था। बात यह थी कि उसमें स्वाभाविकता लाने के लिए कई जगह वज़ीरा के सम्वादों को पंजाबी में कर दिया गया था और पंजाबी लहजा तो खैर पूरे नाटक के दौरान में रक्खा जाय इसकी हिदायत मुझे कर दी गई थी। अपनी जान मैंने डट कर पंजाबी बोली और जब नाटक समाप्त हुआ तो मैं यह जानने को बहुत उत्सुक था कि मेरी इस पंजाबी वक्तृत्व-कला का क्या प्रभाव दर्शकों पर पड़ा। नाटक समाप्त होने के बाद पंत जी०, डा० वर्मा तथा परिमल के तमाम सदस्य और बहुत से अतिथि रुक गये कि हम लोगों को बधाई देकर जायँ। अज्ञेय जी भी थे। इन सबों में वही एक पंजाबी थे। मैंने बहुत आहिस्ते से उनसे पूछा कि उनका क्या ख्याल है मेरी पंजाबी के बारे में। उनके शब्द तो याद नहीं पर जो बहुत धीमे से उन्होंने कहा उसके अर्थ यही थे कि जिनको पंजाबी जबान नहीं आती वे जरूर मेरे अभिनय से बहुत प्रभावित होकर गए होंगे।

छाया-नाट्य के सम्बन्ध में एक और रोचक घटना हुई थी। छाया के दो या तीन दृश्य हैं। उनमें से पहले में तो लहनासिंह और वह लड़की काफी छोटे-छोटे हैं। पर दूसरे दृश्य में जब सूबेदारनी के रूप में वह उससे भेंट करता है तब वह बड़ा भरपूर उम्र का फौजी जवान है। निर्देशन में पंत जी के सहायक थे श्री केशवचन्द्र वर्मा और उनकी बड़ी मुसीबत थी। वाद्ययन्त्रों से लेकर उद्घोषणा तक का ज़िम्मा उनका था। क्या सम्हालें और क्या न सम्हालें? पहले दृश्य में तो कृष्ण और उमा ने 'कुड़माई' वाला अंश प्रस्तुत कर दिया और फिर आगे खाई वाले रंगमंच पर अभिनय होने लगा। छाया-नाट्य का दूसरा दृश्य जब निकट आने लगा तभी उन्हें किसी ने याद दिलाया कि इसमें पहली अभिनेत्रियों से काम नहीं चलेगा, इस दृश्य में तो दोनों भली-भाँति प्रौढ़ हो गए हैं। अब क्या किया जाय? दो मिनट बाक़ी! कहाँ से नये अभिनेता आयें? और नाटक रोका

नहीं जा सकता ? बेचारे दौड़ कर गए । सामने दर्शकों में एक भलेमानस सरदार बैठे दीखे । उनके पास गए । कान में कहा—"बस आप चले आइये, वरना हम लोगों की खैर नहीं !" सरदार जी बेचारे कुछ समझे नहीं । हिचकिचाए—कि केशवचन्द्र वर्मा जी ने हाथ जोड़ कर कहा—"बस अब हमारी इज्ज़त आपके ही हाथ मे है ?"···

"आखिर मुझे करना क्या होगा !" उन्होंने घबरा कर पूछा ! वर्मा जी उन्हें ले आए और नाटक के पर्दे के पीछे उन्हें घुटनों के बल बिठा दिया और कहा —"आप ऐसे ही बैठे रहें।" बेचारे छाया-नाट्य वाले लहनासिंह बना कर बिठा दिये गये । बस उनके सामने एक सूबेदारनी लाकर खड़ी कर दी गयीं और समय आते ही पीछे की बत्ती ऑन और माइक्रोफोन पर वार्तालाप बोल दिये गये—दर्शकों को क्या मालूम कि इसी बीच में कितना बड़ा ड्रामा ग्रीनरूम में हो गया । इतना हो जाने के बाद वर्मा जी ने अपने माथे का पसीना पोंछा और ईश्वर को धन्यवाद दिया, और अगले दृश्य में लगे । पर बेचारे इस हड़बड़ी में सरदार जी से यह कहना भूल गये अ नका काम खतम हो गया, वे जायँ—नतीजा यह हुआ कि बीस मिनट बाद जब नाटक खत्म हुआ तब भी सीधे सादे सरदार जी बेचारे उसी मुद्रा में घुटने टेके सूबेदारनी की ओर देखते हुए पाये गये—ज़ाहिर है कि सूबेदारनी कब की जा चकी थीं !

एक ऐसा ही बड़ा संकटपूर्ण क्षण नाटक होने के डेढ़ घण्टे पहले उपस्थित हुआ जब मेकअप हो रहा था । मेरे जीवन में स्टेज के लिए मेकअप किये जाने का यह पहला मौका था । ऐसा-ऐसा रोग़न और चमकदार पाउडर मलना पड़ा चेहरे पर कि मेरे तो होश फ़ाख्ता हो गये । रघुवंश जी शायद इस मुसीबत से बच गये क्योंकि उन्हें बीमार बोधासिंह बनना था और अधिकतर वे लेटे रहते थे । जब पाउडर वगैरह लगाकर शीशा देखा तो पहला ख्याल आत्महत्या का ही आया । अब जीकर क्या करेंगे ? पर जब ध्यान में आया कि इसके बाद सिक्खों वाली दाढ़ी मूँछ भी लगानी है और अधिकांश चेहरा तो उससे ढँक जायगा तब दिल को तसल्ली आयी और स्टेज पर उतरने के लिये मन को पोढ़ा करने लगा । इसी समय अकस्मात दो अत्यन्त उदात्त स्वर कान में पड़े और मैं चौंक उठा । मालूम हुआ कि नायक (साहीजी) और खलनायक (गोपेश जी) में यहीं सज्जागृह में तनातनी हो गयी । कारण पूछने पर मालूम हुआ कि झगड़ा एक पिस्तौल के सम्बन्ध में है । डा० हरदेव बाहरी ने मिलिटरी से तमाम पोशाकें और असली हथियारों का इन्तज़ाम कर दिया था । वे बन्दूकें तो कई ले आये थे पर पिस्तौल

एक ही थी। अब वह पिस्तौल रक्खे कौन ? नायक या खलनायक ? नाटक में जरूरत दोनों को पड़ती है पिस्तौल की ! माँग दोनों की सही थी पर पिस्तौल थी एक। अब क्या हो ? सभी लोग तो इस समस्या के सुलझाने में लगे तो कुछ ने इनको और कुछ ने उनको जो नेक सलाहें दीं उसका शुभ परिणाम यह निकला कि दोनों के मन से ममता-मोह का अज्ञान दूर हो गया, दोनों बड़े विरक्त भाव से बोले—"रहने दीजिये, मुझे पिस्तौल की जरूरत नहीं !" यहाँ तक ठीक था पर यह देखिये कि उनका वैराग्य तो इस सीमा तक पहुँचा कि दोनों ने मुँह फुलाकर घोषित किया कि यह नाटक आदि सब मायाजाल है' और वे अब इसमें नहीं फँसेंगे। अगर निर्देशक चाहते हैं कि नाटक हो तो दूसरे अभिनेता ढूँढ़ लें—'अब लौं नसानी, अब न नसैहों।'

अब आप यह ध्यान रक्खें कि वह महत्वपूर्ण घोषणा उन्होंने साढ़े पाँच बजे शाम को की जबकि सात बजे से नाटक आरम्भ होना था। अब लगा कि पूरा परिमल-पर्व तो भगवान ने निबाह दिया पर आज भगवान गहरे मजाक़ के मूड में हैं। फिर भी निर्देशक पंत जी, सहायक निर्देशक केशवचन्द्र वर्मा, डा० बाहरी सभी किसी प्रकार लगे तब जाकर वह सज्जागृह का नाटक दुखान्त होते-होते बचा और नायक और खलनायक ने एक दूसरे को गले लगाया और हम लोगों की जान में जान आयी।

उस दिन बेहद जनता आयी थी। नाटक का आयोजन युनिवर्सिटी के ड्रैमेटिक हाल में किया गया था और बहुत सीमित प्रवेशपत्र दिये गये थे। पर जब लोग आये तो बैठने के लिए तिल भर जगह नहीं और बाहर सैकड़ों लोग मौक़ा पाते ही अन्दर आने को तैयार। आगे का तो सारा प्रबन्ध डा० हरदेव बाहरी ने सम्हाला पर खतरा पीछे के दरवाज़े से था जहाँ विद्यार्थियों की भारी भीड़ अनधिकार प्रवेश के लिये लालायित खड़ी थी। उसे सम्हालना कठिन था और हम सबको अन्दर अभिनय करना था। अन्त में कोई उपाय न देखकर श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय से प्रार्थना की गयी कि वे उस स्थान को सम्हालें। पाण्डेय के ओजस्वी स्वभाव से परिचित होने के कारण एक आशंका मन में उठती थी कि कहीं किसी से जरा-भी कहा-सुनी होगयी तो भीड़ को अनियंत्रित होते कितनी देर लगती है, पर फिर भी यह विश्वास था कि इस स्थिति को उनके सिवा कोई सम्हाल नहीं सकता है। वे गये और उस द्वार पर जाकर एक बांह द्वार के आरपार टेक कर अडिग खड़े हो गये। पहले लोगों ने धक्का-मुक्की की पर वे टस-से-मस न हुए। अन्त में उन्होंने तर्क-वितर्क किये—वे बहुत संयत उत्तर देते रहे। अन्त में एक

किसी ने ब्रह्मास्त्र चलाया। बिल्कुल निकट आकर उनके मुँह पर बोला—"आप मूर्ख हैं!" उनका मुँह लाल हो आया, पर तुरन्त अपने को साधकर बोले—"मैं मूर्ख सही, पर आपको अन्दर नहीं जाने दूँगा!"

भीड़ हार गयी!

बाद में मैंने जब यह सुना तो मन कृतज्ञता से भर आया। उस समय ज़रा सा असंयम सारी स्थिति बिगाड़ सकता था, पर नहीं—जो जहाँ भी था, रंगमंच से लेकर प्रवेश द्वार तक सबने अपनी गहन जिम्मेवारी समझी थी। और रंगमंच की सफलता का शायद सबसे बड़ा रहस्य यही होता है, एक गहरा विश्वास भरा सहयोग-सूत्र और यह भावना कि हम सब, या हमारा पद, अधिकार, बड़प्पन कहीं कुछ नहीं—मुख्य वस्तु है नाटक और उसकी आत्मा को सही-सही रंगमंच पर प्रस्तुत कर देने का नशा—और यही चीज़ होती है जो सभी को एक सहज स्नेह में गूँथे रखती है और उनके सारे अभावों के बावजूद उनके सर्वश्रेष्ठ तत्व को उभार लाती है।

और उसी सहज विश्वास और स्नेह के सहारे किसका-किसका सहयोग नहीं मिला? पंत जी ने तो अस्वास्थ्य के बावजूद निर्देशन सूत्र लिया। डा० रामकुमार वर्मा तो अध्यक्ष मण्डल के सदस्य भी थे और उन्होंने प्रदर्शन प्रारम्भ होने के पूर्व स्वतः अपने प्रिय श्लोक के द्वारा सरस्वती वन्दना की। बाद में आयोजकों को ध्यान में आया कि नाटक के अधिष्ठाता देवता हैं नटराज तो क्यों न शिवस्तोत्र का पाठ प्रारम्भ में हो। पर पाठ करे कौन? डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी पर्व का उद्‌घाटन करने आये थे और प्रदर्शन तक रुक गये थे। उनके सम्मुख समस्या रक्खी गयी तो बिना किसी संकोच के अत्यन्त सरलता-पूर्वक वे माइक्रोफोन के सामने आ खड़े हुए और उत्साहपूर्वक पढ़ना शुरू कर दिया—"जटा कटाह सम्भ्रम……"

साहित्यिक स्तर पर वैसा नाटकीय आयोजन प्रयाग में पहला था और आगे कभी इतने व्यापक सहयोग से, इतने मधुर वातावरण में वैसा कुछ किसी के द्वारा भी हो सके, इसकी आकांक्षा ही रह गयी। अब ज्यादा साधन हैं, ज्यादा उदार वातावरण है, रंगमंच के लिए जनता में ज्यादा उत्साह है पर कठिनाई यह है कि अब रंगमंच या तो सरकारी योजना के प्रचार का माध्यम रह गया है, या कैरीयर का, या सरकार से संस्था के लिये अनुदान लेने का। वह बेलौस नशा जाता रहा नाटक खलने का जिसमें सारा अहम् और कल्मष धुल जाता था।

कैरीकेचर

राम जी की चींटी: राम जी का शेर

मेरे बचपन में मेरे पड़ोस में एक ताई रहती थीं। उनके पति रिटायर्ड दारोगा थे, बहुत पढ़े थे, खाट पर लेटे-लेटे हुक्का पिया करते थे और चौबीसों घण्टे ताई पर खीजते रहते थे। इसका कारण यह था कि हमारी ताई दरियादिल थीं। और दरियादिल भी ऐसी वैसी नहीं, यह समझिये कि अगर चूल्हे के पास कोई चींटी रेंगती दीख जाय तो खाना बनना बन्द हो जाता था। उस चींटी की बांबी ढूँढ़ी जाती थी, उसके बाद दारोगा ताऊ को खड़ाऊँ पहन कर गुड़ की मंडी जाना पड़ता था, वहाँ से कच्ची राब लानी पड़ती थी। राब यानी कच्ची शक्कर। चींटियों की बाँबी पर, वह राब बिखेरी जाती थी, दारोगा ताऊ खाली पेट, भूखे प्यासे मचिया तोड़ते बड़बड़ाते, ताई को खरी खोटी सुनाते रहते थे और ताई सब ओर से कान बन्द किये चुटकी-चुटकी राब डालती रहती थीं। और भाव विभोर होकर कहतीं, 'रामजी की चींटी, रामजी की राब।' दारोगा ताऊ का हुक्का भी जब ठंडा पड़ जाता तब वे खुले आम ताई जी को सस्नेह गालियाँ देते हुए कहते थे, 'पाँच हाथ के आदमी की सेवा नाहीं की जाती, चींटिन के खिलाएँ...' और ताई बीच में कहतीं, 'उंह, जिन्दगी भर पुलुस में अधरम की कमाई कियो, मरती बिरियाँ चुटकी भर धरम नाहीं किया जात।' और फिर इस पर जो कोहराम मचता, चिलम फूटती, चूल्हा तोड़ दिया जाता, मुहल्ले भर की नींद हराम हो जाती और रामजी की चींटियाँ, रामजी की राब खाती रहतीं, और जब शाम को

दारोग़ा ताऊ भूख के मारे व्याकुल हो जाते तब हम लोगों के घर आते और हम लोग उनके सामने परायठे तरकारी लाकर रख देते और वे रो-रोकर बताते कि उन्हें ३० रु० पिन्शन मिलती है जिसमें से चींटियों की राब, गौरैयों की किनकी, गऊमाता का टिक्कड़, कौओं की रोटी, एकादशी का सीधा, कल्यानी मैया का सिंगार, भवानी माई की भीख, पाँच कुंआरे कुंआरियों का भोजन, झूला झाँकी, अन्धे सुबराती मियाँ की बख्शीश, इन तमाम बहुत जरूरी खर्चों में २४ रु० खतम हो जाते हैं। ६ रु० बचते हैं। कहाँ से खाँय ? और हर महीने दारोग़ा ताऊ को किसी न किसी से १० रु० उधार लेने पड़ते थे।

अब आज आपको एक बहुत अपनी प्राइवेट बात बताऊँ कि जो इतने दिनों तक मैंने शादी नहीं की थी, उसका बहुत सा कारण बहुत से लोग समझते हैं, भावुकता, कैरियर, स्वच्छन्दतावाद आदि अदि''''पर असली बात साहब यह थी कि इस ताई-ताऊ-पुराण से ऐसी दहशत मेरे मन में बैठ गयी थी कि मुझे लगता था कि मैंने शादी की कि मेरी दशा वैसी ही हुई जैसी दारोग़ा ताऊ की। अन्त में मेरी एक बहिन जी, जो मुझे बहुत चाहती थीं, उन्होंने मुझे बहुत-बहुत समझाया कि देख भइया, ये सब पुराने जमाने की औरतों में होता था। अब ये जो आधुनिकाएँ हैं वे इन सब मूर्खताओं से मुक्त हो गयी हैं। मैं तेरे लिए ऐसी लड़की ढूंढ़ दूंगी, जो १६ आने आधुनिक होगी। घर का हिसाब अँग्रेजी में बनायेगी, जिसने बी० ए० में गृहविज्ञान और एम० ए० में अर्थशास्त्र लिया होगा। टिप-टाप होगी आदि-आदि। मैं साहब अपनी बहिन जी के कहने में आ गया। उन्होंने लड़की ढूंढ़ दी। मैंने शादी कर ली। पर आप मेरी भयंकर अंतर्वेदना का अनुमान नहीं कर सकते, जब मैंने हफ़्ते भर के अन्दर यह पाया कि यह जो भारतीय नारी नाम का जन्तु है इस पर डारविन के विकासवाद का सिद्धान्त लागू ही नहीं होता। इसमें आदिकाल, मध्यकाल, आधुनिक काल होता ही नहीं, यह तो सदा से प्रागैतिहासिक काल में थी, प्रागैतिहासिक काल में है, प्रागैतिहासिक काल में रहेगी। ऊपर से यह भारतीय नारी ऊँची एड़ी की सैन्डिल पहन ले, नाइलन की साड़ियाँ पहन ले, तन के चले, ऊँचा जूड़ा बनाये, सर्राटे से मोटर चलाये, अँग्रेजी में धोबी का हिसाब लिखे, पर अन्दर से यह हमारी वही पुरानी बचपन वाली ताई है—'रामजी की चींटी, रामजी की राब !' दरियादिली वही दरियादिली,''''

इस सत्य का इलहाम मुझे कैसे हुआ, यह आपको क्या बताऊँ। अब मान लीजिये कि गर्मी आ गयी है और हम लोगों को कुछ गर्मियों के कपड़े खरीदने हैं। बाजार गये। तय हुआ कि एक चक्कर यूँ ही लगायेंगे फिर जो दूकान बहुत

फैन्सी और आधुनिक रुचि की लगेगी वहाँ से खरीददारी होगी। अब दूकानों के सामने चल रहे हैं, चमाचम बिजली की रोशनी, रंग बिरंगे शो केसेज, सजाकर लटकाई हुई वाइल की साड़ियाँ। मैं अपनी धुन में चला जा रहा हूँ कि अचानक पाया कि अरे वो तो पीछे छूट गयीं। मुड़ के देखता हूँ तो एक बन्द दूकान के सामने आप खड़ी हैं। पीछे लौटता हूँ—"कहो भाई, इस बन्द दूकान के सामने क्या कर रही हो?" "उंह, अरे बन्द कहाँ है, दीखता भी नहीं तुम्हें? वाह!" मैं ध्यान से देखता हूँ, सचमुच दूकान खुली है पर अन्दर मोमबत्ती जल रही है और एक अधेड़ मियाँ जी बहुत ग़मगीन, सर झुकाए, गद्दी पर बैठे हैं। बग़ल की आलमारियाँ खाली हैं, दो चार खानों में कपड़े पड़े हैं। आप बोलती हैं,—'बेचारा कितना दुःखी है। लगता है इसकी दूकानदारी नहीं चलती।' 'होगा, आगे चलो।' मैं कहता हूँ। 'क्यों, तुम्हें ज़रा दया ममता छू नहीं गयी। लगता है बेचारे की बोहनी नहीं हुई। मैं तो यहाँ से कुछ न कुछ जरूर लूँगी।' 'भाई पर यहाँ तो बिजली भी नहीं है।' मेरा यह वाक्यांश दूकानदार मियाँ सुन लेते हैं और तुरन्त पिनक में से चौंक के बोलते हैं, 'तशरीफ़ लायें सरकार, बिजली है, आप जैसे गाहक आते हैं तो जला देते हैं बिजली, वरना जो देहाती गँवार आते हैं उनके लिये क्या बिजली और क्या लालटेन?" मैं जाता हूँ, बैठ जाता हूँ। सोचता हूँ अब बिजली जलेगी, अब जलेगी, अब जलेगी! पर दूकानदार मियाँ बेफ़िक्री से कपड़े निकालते हैं, फैलाते हैं, फिर आराम से मेम साहब की ओर देखकर कहते हैं, 'सरकार, ये टुच्चे दूकानदारों का काम है कि रद्दी कपड़ा बिजली की चमक में चमकाकर गाहक को लूट लें। कपड़े की असली परख मद्धिम रोशनी म होती है। कपड़ा और हीरा एक मुक़ाबिल हैं। बिजली में तो सब चमकता है, अन्धेरे में चमके सो हीरा। ग़रीबी में रहता हूँ हुज़ूर, पर ईमान की रोटी खाता हूँ। आप देंगी तो दो रोटी खा लूँगा, नहीं देंगी अल्लाह का शुक्र करूँगा, आपको दुआ देता हुआ सो जाऊँगा।' बस, हो गया। मैं जानता हूँ कि उनकी दरियादिली का झरना अब फूट पड़ा, अब जो खरीदारी होनी है सो यहीं होनी है। उनकी 'हाय हाय! बेचारा! राम-राम!' की जो फूल वर्षा होती है उसका विस्तार आपको क्या बताऊँ? परिणाम यह समझ लीजिये कि २५० रु० के कपड़े खरीदे जाते हैं और कपड़े भी ऐसे कि असली जर्मनी मलमल के दो थान आये थे जिसमें से एक तो आज से १५ बरस पहले बहरामपुर के राजा साहब तिरबेनी नहाने आये थे तो ले गये थे। एक बचा था सो अब १५ साल बाद मेरे यहाँ आया है। असली कपड़ा तो ज्यों-ज्यों पुराना हो त्यों-त्यों उसमें आब आये। सिर्फ़ ३ थान और आधी दर्जन धोतियाँ ऐसी थीं जो ज़रा फटी थीं पर कुछ तो दर्जी से कहा गया कि काट-छाँट में निकाल दे और कुछ दूकानदार को हफ़्ते भर बाद लौटाने गयीं तो उसके पास और धोतियाँ नहीं थीं

तो उसने गद्दे का मोटा धारीदार कपड़ा दे दिया। घबराकर पूछा कि क्या यह मेरे कुरते कमीज़ का है तो मालूम हुआ कि कभी न कभी काम में आ जावेगा। पर इतना ही नहीं, इस बार वे अकेले गयी थीं कपड़ा लौटाने तो दूकानदार मियाँ ने बताया कि यहाँ अब बहुत बेईमानी बढ़ गयी है, उनका जी नहीं लगता, वो अदन में आकर रोज़गार करेंगे। प्रोफ़ेसर साहब से पूछना किताबों के लिये आलमारी की ज़रूरत हो तो ये कपड़े की आलमारियाँ आप ही की हैं। हमें तो दूकान बढ़ाना है। आप ले जाँय। वैसे इसका ५०० रु० मिल रहा था। पर हम आपको ही देंगे। आप हमें सौ पचास चाहे कम दें। मैं धड़कते दिल से रोज़ प्रतीक्षा करता हूँ कि किस दिन मेरे इस सजाये कमरे में वो दीमक खाये हुए जहाज़ जैसी टूटी आलमारियाँ लाकर गांज दी जायगी क्योंकि सुना है मियाँ की लड़की बीमार थी, हाथ तंग था तो वे मियाँजी को २०० रु० पेशगी दे आयीं! तो क्या हुआ? २०० रु० में कोई हमारा दिवाला निकल जायगा।

और हाँ, यह तो बताना भूल गया कि उस दिन जब ये बाज़ार गयीं आलमारी का एडवाँस देने तो ज़रा देर में लौटीं तो पीछे-पीछे रिक्शेवाला एक बहुत बड़ा बंडल उठाये। मैं हतप्रभ होकर देख रहा था कि आज क्या ख़रीद लाया गया है। जब वह बंडल लाकर बरामदे में ज़मीन पर रख दिया गया और नौकर को हुक्म हुआ एक कटोरी में पानी लाओ, ज़रा दूध गरम करो, फिटकिरी है? मैंने उत्सुकतावश उस काग़ज़ को हटाकर देखा तो चौंक कर पीछे हट गया। उसमें एक पूरी डेढ़ फ़ीट चील की। उसने पंख फड़का कर ऐसी ख़ौफ़नाक आँखों से मेरी ओर देखा कि बस न पूछिये। मैं चुप। यह तो जानता था कि पुरानी औरतें चिड़ियाँ पालती थीं···तोता, मैना, लाल मुनियाँ, पर सोचता था आधुनिकाएँ इन मूर्खताओं से मुक्त हो चुकी होंगी। पर नहीं, चिड़ियाँ अब भी पाली जाती हैं और वह भी चील इसका मुझे स्वप्न में आभास नहीं था। एक क्षण को मैं अधीर हो उठा, लानत है ऐसी दरियादिली पर, गन्दा जानवर। मैंने चीखकर कहा—'यह क्या बेहूदगी है, फेंको इसे बाहर।' 'अरे वाह!' वह पलटकर बोलीं 'बड़े आये कहीं के। इसे गुलेल मार कर बच्चों ने गिरा दिया था। उसका पंख टूट गया था। इसे पूंछ पकड़कर घसीट रहे थे। मैंने देखा तो रिक्शा रुकवा दिया। बच्चों को डाटकर भगाया, उठवाकर ले आयी। पाँच रुपये देने पड़े। 'पाँच रुपये काहे के?' मैंने पूछा। 'काहे के? तुम तो कुछ नहीं समझते। अरे भाई जिसने अपनी गुलेल से चील मारा था वह बोला कि चील मेरी है। रुपये दीजिये तो दूँगा। वह तो १० रु० माँग रहा था। फ़िर मैंने बहुत डाँटा तो पाँच रुपये लिये। तुम तो समझते हो बस मैं दया ममता में रुपये बहाती हूँ। जी नहीं, मैंने उससे काफ़ी मोलभाव करके तब पाँच रुपये में

ली ।' और इतना कह कर वह उसे दूध फिटकिरी पिलाने लगी। मालूम हुआ कि फ़िटकिरी पिलाने से चोट अच्छी हो जाती है, टूटी हड्डी जुड़ती है। अब ये सब क़िस्सा क्या कीजियेगा जान के कि कैसे वह चील हमारे यहाँ पाली गयी, उसके लिये क्या-क्या इन्तज़ामात हुए, उसे कुत्तों से बचाने के लिये कैसे बढ़ई लगवाकर जाली बनवाई गयी, कैसे आने जाने वालों को मेरी स्टडी और मेरे बाग़ और मेरी किताबों के अलावा बड़े चाव से वह चील भी दिखाई जाती थी और कैसे जब एक दिन नौकर ने भूल से जाली खुली छोड़ दी और चील टिहकारी मारती हुई उड़ गई तो शाम को हमारे यहाँ दुख में खाना नहीं बना और सारी रात वह रोती रहीं और सुबह सपने मे चील ने आकर कहा कि आपके हाथसे खाये बिना में भूखी रह गयी हूँ और फिर उनकी आँख खुल गयी और वह सिसक-सिसक कर रोती रहीं।

पर यह न समझिये कि यह चील प्रकरण का अन्त है। उस दिन मेरे यहाँ कुछ मेहमान आने वाले थे। सोचा कि स्वीट डिश के लिये रसमलाई मंगवा ली जाय। आप गयीं बाज़ार। घंटे भर बाद लौटीं तो रसमलाई लेकर आ रही थीं कि अकस्मात एक चील ने झपट्टा मारा। मिठाई नीचे गिर गयी पर हाथ लुहू लुहान हो गया। इतना बताते हुए आँख में आँसू भर कर बोलीं, 'बेचारी हो न हो, वही चील थी। एक बार का पाला जानवर कभी ममता नहीं छोड़ता। राम-राम ! बिचारी सपने में भी भूखी थी मेरे बिना।' मेरे तन बदन में आग लग गयी। 'तब ये हाथ लेके क्यों कराह रही हो। गाओ ! नाचो।'—'गाऊँ चाहे रोऊँ, तुम्हें क्या पड़ी है। तुम्हारा हाथ तो नहीं ज़ख़्मी हुआ ? मेरी चील मेरा हाथ, तुमसे मतलब ?' मैं क्या जवाब देता। आप होते आप ही क्या जवाब देते। मैंने कहा न बाहर से क्या होता है ? अन्दर से ये सब वही हैं चाहे बी० ए० में गृहविज्ञान और एम० ए० में अर्थशास्त्र लिया हो पर मेरी चील मेरा हाथ, आपसे मतलब ? नहीं साहब कोई मतलब नहीं। पर एक बात मैंने सोच ली है। जिस दिन उनकी इस दरियादिली से बेहद आजिज़ आ जाऊँगा—उस दिन दूर सैर को निकल जाऊँगा। रास्ते में साँप, बिच्छू, शेर, चीता, भेड़िया जो कुछ भी मिलेगा उस पर दयावान होकर उठा लाऊँगा, घर में छोड़ दूँगा। फिर अगर कुछ भी मुसीबत आये मुझे परवाह नहीं। मैं तो आराम से भावविभोर होकर गाऊँगा, 'रामजी की कान्ता, राम जी का शेर। रामजी की कान्ता, राम जी का शेर।' और क्या कर सकता हूँ आप ही बताइये।

વ્યંગ

गुलिवर की तीसरी यात्रा

जब भाई गुलिवर जी लिलिपुट और ब्राडबिगनैग की यात्राएँ समाप्त कर वापस आये तो उनकी उम्र ढलने लगी थी। एक दिन शीशा देखते हुए उन्हें अपने सर में एक सफ़ेद बाल दीख पड़ा। सफ़ेद बाल को देखते ही उनमें आत्मज्ञान जागा और उन्होंने सोचा कि जो कुछ भी करना है वह जल्दी कर डाला जाय। बस झट से उन्होंने शादी कर ली। एक छोटा-सा बंगलानुमा मकान खरीद लिया, दो-चार मुर्गियाँ और दो चार बत्तकें पाल लीं, घर के सामने थोड़ा-सा टमाटर, पालक, धनिया वगैरह बो लिया जहाँ सुबह धूप में आरामकुर्सी डाल कर वह धूप खाते थे, बत्तकों की देख भाल करते थे। उनके कुछ रुपये अपने एक कविमित्र पर बाकी थे और रुपयों के एवज में वे कविमित्र उन्हें उन पत्रिकाओं की प्रतियाँ भेज देते थे, जिनमें उनकी कविताएँ छपा करती थीं। एक प्रति तो उन्हें नियमित रूप से मिलती थी, और दो-चार प्रतियाँ वे सम्पादक की निगाह बचा कर उठा लाते थे, जिससे वे उधार चुकाया करते थे।

बहरहाल, चढ़ता हुआ बुढ़ापा, नई-नई बीवी, जाड़े की हल्की सुनहली धूप और मुफ्त की पत्रिका! ऐसे-ऐसे संयोग जुड़े कि भाई गुलिवर जी एकाएक काव्य-प्रेमी हो गये। अखबार की दूकान पर जाकर वे पत्रिकाएँ उलटते-पलटते कविताएँ पढ़ते और रख देते। इस तरह मुफ्त में घड़ों काव्यरस पान कर, तृप्त हो कर वे घर लौट आते।

एक दिन जब उनकी पत्नी बाग़ के कोने में शलजम खोद रही थी, भाई गुलिवर जी चुपचाप बैठे अनन्त की ओर देख रहे थे—एकाएक उनके हृदय-पटल पर अतीत की स्मृतियाँ झमक उठीं। कैसे अजब था वह बौनों का देश, और कितना भयावना था वह देवों, महामानवों का देश! लेकिन उनसे एक भयानक भूल हो गई थी। वे दोनों द्वीपों में गये, किन्तु उन्होंने लिलिपुट और ब्राडबिगनैग, कहीं के भी कवि के दर्शन नहीं किये थे। यह बात उनके मन में रह-रह कर खटकने लगी। सहसा उनकी पुरानी यात्रा-प्रवृत्ति उबल पड़ी और उसी क्षण उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे यह यात्रा करके ही रहेंगे।

जब उन्होंने यह निर्णय अपनी पत्नी को बताया तो वह बहुत रोई, उसने खाना पीना छोड़ दिया। लेकिन गुलिवर भाई घुमक्कड़ ठहरे। वे तो चल ही दिये। अन्त में हार कर उनकी जवान पत्नी ने आँसू पोंछे, आँखों के नीचे बैंगनी पाउडर लगाया, परदेशी पति की याद में काले वस्त्र धारण कर लिए और पड़ोसी के साथ सिनेमा देखकर और पिकनिक जा कर किसी तरह विरह की घड़ियाँ काटने लगी।

गुलिवर भाई ने अपनी किश्ती मँझधार में छोड़ दी। पहले दिन तूफान आया, दूसरे दिन नरभक्षी चिड़ियों ने उनके जहाज पर हमला बोल दिया, तीसरे दिन उनके रास्ते में बर्फ का तैरता हुआ पहाड़ आ अड़ा, चौथे दिन ये एक चट्टान से टकराते-टकराते बचे, पाँचवे दिन ह्वेल मछली ने पूँछ मार दी, छठें दिन इन्हें हाई ब्लडप्रेशर हो गया और जब ये अपने जीवन की सारी आशा छोड़ चुके थे, तो सातवें दिन इन्हें किनारा नजर आया। ये नन्हें-नन्हें हाथ भर के पेड़, दो-दो बित्ते की ताल-तलैया, १० फीट ऊँचे उत्तुंग पर्वत शिखर, वह लिलिपुट को खूब पहिचानते थे। लिलिपुट के सभी बौने भी इन्हें पहचानते थे। गुलिवर जी ने उन्हें छोटी-छोटी पिनें बांटनी शुरू कर दीं जिन्हें वे भाले समझकर खुशी-खुशी घर ले गये।

अन्त में गुलिवर जी ने अपने मतलब की बात पर आना ठीक समझा। एक बौने को हथेली पर उठा कर चेहरे के सामने कर लिया और उससे कवि का पता पूछा; यह देखकर कि इस महामानव गुलिवर के मन में भी काव्यप्रेम उमड़ा है, बौना बड़ा खुश हुआ। उछल कर इनके कन्धे पर जा पहुँचा, और नाचने लगा। अन्त में इनके कर्णविवर में मुँह डालकर भाव-विभोर स्वर में कहा—"तो तुम हमारे कवि को देखन आये हो। कैसा स्वर्गोपम रूप है उसका! उसकी आँखें स्वप्नाच्छन्न हैं! वह बिलकुल देवकुमार है, छूते ही कुम्हला जाता है। वह इन्द्रधनुष है, गुलाब का फूल है, कुम्हड़बतिया है।"

"हाँ, हाँ, लेकिन वह रहता कहाँ है। मैं उसके दर्शन करूँगा।"

"दर्शन करोगे?" बौना घबरा गया। उलट कर गुलिवर की जेब में गिर पड़ा। गुलिवर ने निकाला तो वह काँपते हुए बोला—"लेकिन वह बहुत सुकुमार है। लिलिपुट की अनिन्द्य सुन्दरियाँ भी उसकी कोमलता के आगे लजा जाती हैं। वह तुम्हें देखकर भय से प्राण त्याग देगा और हम कवि-विहीन हो जायेंगे।"

खैर, गुलिवर ने बहुत समझाया-बुझाया, आश्वासन दिया तो बौना बोला "बुझे हुए सितारों की घाटी में एक आश्रम है। वहाँ एक महान सन्त रहता है, जो नली से पानी पीता है और जिसे झरोखे में खाना पहुँचाया जाता है। वह नक्षत्रों से बातें करता है, खरगोश और पक्षी उसके शिष्य है। उसी सन्त के आश्रम में हमारा कवि रहता है।"

गुलिवर साहब वहाँ पहुँचे तो मालूम हुआ कवि जी वहाँ से लिलिपुट के एक दूसरे नगर में पहुँच गये है। गुलिवर साहब ने सन्त को प्रणाम किया और कवि के नगर की ओर चल दिया। नगर लिलिपुट के दूसरे छोर पर था, क्योंकि गुलिवर साहब को वहाँ पहुँचते-पहुँचते पूरे २२ मिनट ७ सेकण्ड लग गये।

उस नगर के समीप पहुँचते-पहुँचते भाई गुलिवर जी को लगा कि वायुमण्डल मे अनगिनत ध्वनि-तरंगें गुंजन कर रही हैं। बालू के टीले के पास झाड़ियों से घिरा हुआ, समुद्र तट पर कवि का नीड़ था। वह नीड़, जिसे गद्य-लेखक घर कहेंगे, बड़ा ही सुन्दर बना था और चक्करदार था। यानी वक्त-ज़रूरत उसे उत्तर-पश्चिम, पूरब-दक्खिन, किसी ओर भी घुमाया जा सकता था। कवि जी जिधर हवा का रुख़ देखते थे, अपने नीड़ को उधर ही घुमा लेते थे।

गुलिवर को देखते ही कुछ बौने तो डर के मारे भागे, कुछ जो उसके पूर्व-परिचित थे, हाथ उठाकर स्वागत में चीखने लगे। कुछ झट से उसके पाँवो के सहारे चढ़ कर उसके दामन से झूलने लगे और उससे उसका कुशल-क्षेम पूछने लगे। उन्हें यह जानकर बड़ी ही निराशा हुई कि भाई गुलिवर जी अब बहादुर जहाजी न रह कर भावुक काव्य-प्रेमी हो गये हैं।

पूछने पर मालूम हुआ कि कवि अभी प्रभु की वन्दना कर रहा है। गुलिवर ने प्रतीक्षा की और जब कवि प्रभु-वन्दना समाप्त कर चुका तब दो बौने इमली

की एक पत्ती पर थोड़ा सा नमकीन समुद्र-फेन ले आये। कवि इसी से नाश्ता करता था क्योंकि भारी चीजें उसे हजम नहीं हो पाती थीं। ठोस खाद्य पदार्थ तो दूर, उसे अपार्थिव विचार-धाराएँ तक हजम नहीं हो पाती थीं। पहले उसने धरती से उत्पन्न होने वाला पार्थिव भौतिक जीवन-दर्शन आजमाया और फिर स्वर्ण नक्षत्रों से झरने वाला आध्यात्मिक जीवन-दर्शन, लेकिन वह इतना सुकुमार था कि दोनों को पचा नहीं पाया।

लेकिन अब कठिनाई यह थी कि वह कवि से बातें करे तो कैसे। जिस घर में कवि रहता था उसमें तो गुलिवर बैठ भी नहीं सकता था, घुस भी नहीं सकता था। अन्त में गुलिवर ने दोनों हाथों से थाम कर उस घर को नींव सहित उखाड़ लिया और सामने एक पेड़ पर उसे टिका कर बैठ गया।

गुलिवर ने देखा। कवि शान्ति से बैठा नाश्ता कर रहा है। कवि सचमुच बहुत सुन्दर था। जौ के बराबर उसकी नन्हीं-नन्हीं आँखें स्वप्नाच्छन्न थीं, उसके रत्तीभर का माथा था जिस पर स्वर्णिम अलकें क्रीड़ा करती थीं। उसकी बोली, उसका रूप, उसका कोट, पैन्ट, जूता सभी अपने ढंग के अनोखे थे।

कवि ने गुलिवर को देखा और मुस्कुरा कर हाथ बड़े कलात्मक ढंग से हिला कर कहा—"आइये!" गुलिवर ने श्रद्धा से हाथ जोड़े। कवि की शिष्टता और मधुरता देखकर उसकी आँख में आँसू आ गये। रुँधे गले से बोला—"धन्यवाद। आज मेरा जीवन सफल हो गया।"

"जीवन!" कवि बड़े निराशाविल स्वरों में बोला—जैसे शाम को उदास घण्टियां बज रही हों—"जीवन क्या है? हम लोग तो बौने हैं, हमारा जीवन क्या है? वायु में भटकती हुई चेतना-तरंगों का कोई रूप होता है? कोई नाम होता है? नहीं। नाम और रूप से बंधे हुए तत्व की संज्ञा ही तो देह है, और देह की क्रियाएँ ही जीवन हैं। जैसे यह बिजली है—(उस समय लिलिपुट में बिजली लग गई थी) इसमें ज्योति दीखती नहीं, बटन दबाइये तो बिजली जगमगा उठती है। बटन फिर दबा दीजिये, ज्योति पता नहीं कहाँ विलीन हो जाती है। ऐसा ही यह नश्वर जीवन है। ओ प्रभू!" कहते हुए उसने गहरी सांस ली और अधमुंदी पलकों से क्षितिज की ओर देखने लगा। उसकी पलकों पर स्वप्नों की परियाँ उतर आईं। उसका वक्ष श्वास-प्रश्वास से परिदोलित होने लगा।

धीरे-धीरे कवि ने आखें खोलीं और बहुत धीमे स्वर मे बोला—"मै बहुत थक गया हूँ।" वह गद्देदार सोफ़ा पर लेट गया और गुलिवर ने बिजली का पंखा खोल दिया। कवि ने करवट बदली और कहा—"बडी गरम हवा इस पंखे से आती है!" गुलिवर ने पूछा, "दर्वाजा घुमाकर समुद्र की ओर कर दूं?" तो कवि काँप उठा। कहा—"नहीं, नहीं। मेरे लघु-लघु गात पर सागर-समीर आघात करता है!"

अब गुलिवर ने कवि के कमरे की ओर निगाह डाली। लिलिपुट में इससे सुन्दर कमरा और कोई नही था। नीचे सुन्दर फ़र्श, तख्त पर मखमली गद्दे, सुन्दर कलात्मक तकिये। एक कोने की मेज पर दर्पण, शृंगार-मंजूषा, स्नो, नेल पालिश, रूज और भाँति-भाँति के इत्र। दीवार पर एक उसी स्नो कम्पनी का कलात्मक कैलेण्डर, दूसरे कोने में एक कमउम्र लड़की का चित्र।

"यह आपकी......?"

कवि लजा गया। उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर बाद बोला गहरी सांस लेकर,—"प्रेम मन को तपा कर स्वर्ण बनाता है। प्रेम दिव्य है, पावन है, स्वर्गोपम है।"

गुलिवर न कवि की वाणी सुनी और अपनी इंगलैण्ड प्रवासिनी पत्नी की याद कर उसकी आँखों में आंसू आ गये।

कवि लेटा रहा—"यह खिड़की बन्द कर दीजिये। चिड़ियाँ शोर करती है" —उसने कहा।

"तो आप जनता में कैसे मिलते होंगे?"—गुलिवर ने पूछा।

"जनता में बहुत घुलमिल नहीं पाता। एकान्त मुझे अच्छा लगता है। कभी कभी महाराज की वर्षगांठ पर गीत सुनाने अवश्य जाता हूँ। पर वह बात दूसरी है।"

थोड़ी देर दोनों चुप रहे। फिर कवि ने पूछा—"गीत सुनियेगा?" गुलिवर के मुँह में पानी भर आया, लेकिन बोला—"आपको कष्ट होगा!"

कवि बहुत अतिथि-सत्कारी था। बोला,—"नहीं-नहीं, मुझ स्वयम् नहीं गाना पड़ेगा। अलिरे से काम चल जायगा।"

"अलिरे! अलिरे क्या?" गुलिवर ने पहली यात्रा में काफ़ी लिलिपुटीय भाषा सीख ली थी। पर यह शब्द उसके लिए बिलकुल नया था।

"अलिरे आप नहीं जानते?" कवि मुस्कराया। उसने झुककर कोने में पड़ा हुआ एक मुर्दा कीड़ा उठाया और उसे टांग दिया। वह झींगुर जैसा लगता था। थोड़ी देर तक उसमें से वैसी ध्वनि आती रही जैसे जिन्दा झींगुर झंकारते हों, फिर एकाएक उसमें से अजब-अजब संगीत आने लगे।

गुलिवर हतप्रभ था। यह कैसा जादू का खेल था? "यह मुर्दा झींगुर गाता कैसे है?" विस्मय से उसके बोल नहीं फूट रहे थे।

"झींगुर!" कवि हँसा—"यह झींगुर नहीं है श्री गुलिवर जी! यह तो अलिरे है।"

"अलि रे? यानी भंवरा?"

"नहीं! हाँ, उसका कलात्मक अर्थ तो यही है। वैसे अलिरे के अर्थ हैं—अखिल लिलिपुटीय रेडियो।......पहले यह एक वैज्ञानिक यन्त्र-मात्र था। फिर इसका सांस्कृतिक चेतना से समन्वय हो गया तो यह अलिरे हो गया।" उसके बाद फिर एकाएक कवि की आँखें स्वप्नाच्छन्न होने लगीं। वह क्षितिज की ओर देखने लगा और बोला—"यह अलिरे क्या है? केवल एक देहरूप मात्र! यह चेतना, भू-चेतना, किसी में भी अपने को व्यक्त कर सकती है। यह अलिरे, म, सभी तो उसी की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। रूप धारण कर लेते हैं तो हम हैं, आप हैं, यह अलिरे है, अन्यथा सभी एक अव्यक्त चेतना हैं।"

गुलिवर की समझ में कुछ नहीं आया। लेकिन कवि की वाणी में सबसे बड़ा सौन्दर्य यही था उसकी शैली में अत्यधिक माधुर्य था, चित्रात्मकता थी, प्रवाह था, लेकिन अर्थ नहीं था। उसमें पालिश थी, सोने का पानी चढ़ा था, भाषा जगमगाती थी, लकिन उसका तात्पर्य समझ में नहीं आ सकता था। गुलिवर इस भाषा-शली से मुग्ध तो था, लेकिन फिर भी बोला—"लेकिन सुनिये तो, यह

झींगुर सरीखी चीज तो बड़ी घिनौनी है, कुरूप है। कहाँ यह सौन्दर्य-प्रदर्शिनी जैसा आपका कमरा, आपकी नाजुक अभिरुचि और कहाँ यह गन्दा यन्त्र। नाम अलिरे तो सुन्दर है लेकिन······"

"लेकिन परन्तु व्यर्थ है।"...कवि ने बात काटकर कहा—"प्रभु की इच्छा है। नियति की आज्ञा है। अन्यथा मुझे क्या लेना देना? हाँ, इससे कुछ मित्रों से सम्पर्क बना रहता है।"

"कैसे?" गुलिवर ने पूछा।

"बात यह है कि दिन में तीन बार इसके द्वारा सभी कलाकारों के अपने गीत, अपने नाटक, अपने उपदेश, अपनी डायरी, अपनी आत्मकथा, अपनी कहानी, अपने धोबी का हिसाब, अपनी आलोचना, अपना फ़ीचर, अपना उपन्यास विस्तारित होते हैं। इससे सुनने वालों का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा होता है। अच्छा अब रूप-स्नान का समय आ गया। सुनिये!"

रूपस्नान क विषय में जिज्ञासा करने पर ज्ञात हुआ कि दिन में तीन बार कार्यक्रम होता है। प्रातःकाल रूप-स्नान, दोपहर को स्वप्न-विश्राम, रात को हृदय-स्पर्श।

जिस प्रकार अलिरे ने अपने यहाँ के कवियों को सम्मान दे रक्खा था उसे देखकर गुलिवर बहुत प्रभावित हुआ और बी० बी० सी० के कार्यक्रमों को गालियाँ देता हुआ, कवि को श्रद्धा से नमन कर वह अपने जहाज को लौट आया।

दूसरे दिन स्वयम् कवि उनसे मिलने आया और गुलिवर के भावी कार्यक्रम के बारे में पूछता रहा। जब उसन बताया कि वह ब्राडबिगनैग के कवि से भी मिलने जायगा तो लिलिपुट के कवि की आँखें फैल गईं और वह दहशत से देखने लगा। गुलिवर ने कारण पूछा तो वह बोला—"ब्राडबिगनैग का कवि बड़ा क्रूर है। एक बार मैं उससे मिलने गया तो उसने मुझे अपने हृदय से लगा लिया। मेरा पाँव उसके बटन में फंस गया और मुझे मोच आगई। मैं दो माह तक अस्वस्थ रहा।"

"लेकिन यह तो उसके स्नेह का प्रमाण है!"

"सो तो है!" कवि ने लट छिटकाकर कहा,—"वह मुझे स्नेह तो करता है, लेकिन जब कोई पर्वताकार व्यक्ति मुश-जैसे को अपने हृदय से लगाना चाहता है तो उससे भी मुझे कष्ट हो जाता है। और वैसे भी वे मुझे तंग करते हैं। वे बड़े क्रूर हैं!"

अन्त में कवि स्नेह-अभिवादन कर चला गया।

▲

एक दिन विश्राम कर दूसरे दिन गुलिवर ने ब्राडबिगनैग के लिए जहाज खोला। लिलिपुट से ब्राडबिगनैग का रास्ता काफ़ी सीधा था। ६ रोज में जहाज पहुँच गया। ब्राडबिगनैग लिलिपुट का सर्वथा उल्टा, देवों का द्वीप था। ऊँचे-ऊँचे ६०-७० फ़ीट के लोग हाथी की तरह झूमते थे। सबसे पहले गुलिवर ने जहाज को पहाड़ों के पीछे छिपा दिया कि कहीं कोई देव उसे खिलौना समझ कर उठा न ले जाय। वह इस पशोपेश में था कि कवि का पता किससे पूछे क्योंकि यहाँ के निवासी उसे देखते ही खिलखिला उठते थे। उसे एक हाथ से दूसरे हाथ में उछालने लगते थे या आइसक्रीम में तैराने लगते थे।

ब्राडबिगनैग में उस दिन बड़ा उत्सव मनाया जा रहा था। गुलिवर ब्राडबिगनैग की भाषा समझता था। बगल से एक देव एक अखबार में लपेटे हुए कुछ खिलौने ले जा रहा था। उसने एक टोकरी खरीदी और उसमें खिलौने रख कर अखबार नीचे फेंक दिया। गुलिवर चुपचाप खड़ा रहा और जब वह आदमी चला गया तब गुलिवर अखबार की ओर लपका। इतना लम्बा चौड़ा था वह अखबार कि उसे उठाना तो दूर, जब गुलिवर उस पर १० कदम चल चुका तब वह शीर्षक तक पहुँचा और एक-एक अक्षर जोड़ कर उसने पढ़ा कि आज ब्राडबिगनैग के महाराजा के भतीजे का जन्मदिवस है। बस-बस पता चल गया। कवि यहीं होगा। गुलिवर गिरता पड़ता उसी ओर दौड़ा।

राजमहल में निगाह बचा कर सिपाहियों के पांवों के बीच से होता हुआ किसी तरह अन्दर पहुँचा। अन्दर बड़ी धूम-धाम थी। पहले शहनाई बजी, फिर उसके बाद द्वीप भर के देशभक्त, जिन्हें परमिट लेना था, हाथ के कते-बुने कपड़े पहन कर आए और उन्होंने राजा के भतीजे को उपहार देकर उसके चरण छुए, पत्रकारों ने आकर उसके चित्र लिए, डाक्युमेन्टरी फ़िल्म वालों ने उसकी फिल्म बनाई, ब्राडबिगनैग रेडियो ने रिले किया। लेकिन कवि कहीं नहीं दिखाई पड़ा। गुलिवर कुछ निराश-सा हो गया।

इतने में उसे वह किसान दीख पड़ा जिसके यहाँ वह पहली यात्रा में रह चुका था। किसान बहुत बूढ़ा हो गया था; उसकी कमर झुक कर दोहरी हो गई थी। वह हाफ-हाफ कर चलता था। गुलिवर छलांग मार कर उसकी जेब में जा पहुँचा। किसान गुलिवर को देखकर बहुत खुश हुआ। गुलिवर ने उससे पूछा—

"ब्राडबिगनैग का कवि ?"

"तुम तो बहुत उल्टी दिशा में चले आये। वह तो वहाँ रहता है, द्वीप के उस छोर पर जहाँ ग़रीब गोताखोर लोग रहते हैं।"

"वहाँ ?"

"हाँ वहीं एक छोटे से अस्तबल में रहता है। परसों तो मेरे यहाँ आया था। मेरे बीमार बच्चे को कम्बल ओढ़ा कर चला गया। तुम उसके पास जाकर क्या करोगे ?"

"दर्शन करूंगा !"

"दर्शन करोगे।" गुलिवर को हाथ में दबाये हुए वह बुड्ढा राजमहल से भागा और बाहर आकर ठठाकर हँसा—"तुम उसके दर्शन करोगे ? तुम्हारे जैसे कीड़े-मकोड़ों को तो वह चुटकी में मसल देता है !"

लेकिन गुलिवर अपनी ज़िद पर अड़ा रहा। अन्त में बूढ़े से विदा लेकर वह गोताखोरों की बस्ती की ओर चल पड़ा। यह ब्राडबिगनैग के उन गोताखोरों की बस्ती थी जो नरभक्षी मछलियों से लड़कर मूंगा और मोती बटोरते थे और शाम को आकर राजा के सिपाही उनसे मोती और मूंगा छीन ले जाते थे। ब्राड-बिगनैग का सारा वैभव इन्हीं के कारण था, पर ये चीथड़ों में लिपटे रहते थे। ब्राडबिगनैग के कवि ने राजमहल छोड़कर अपने लिए यही मुहल्ला अप-नाया था।

वह एक छोटा-सा अस्तबल था और उसमें कवि तन कर खड़ा भी नहीं हो पाता था। कवि एक विशाल हिमशिखर की भाँति था और चलता था तो

लगता था पर्वत डोल रहे हों। लगता था वह एक हाथ उठाये तो आसमान से चाँद और सूरज तोड़ लाये और पाँव उठाये तो तीन कदमों में वसुधा को नापकर फेंक दे। उसकी वाणी में एक अजब-सी ललकार और चुनौती थी, लेकिन उस की आँखों में एक सरल-तरल स्नेह और ममता !

गुलिवर ने जाते ही उसके चरणों पर सर रख दिया। पहले तो उसने समझा कि कोई कीड़ा मकोड़ा उसके पावों पर चढ़ आया है और दो दफ़े पाँव झटक दिया। गुलिवर दस फ़िट दूर जा गिरा। लेकिन फिर वह धूल झाड़ कर उठ खड़ा हुआ और कवि के पैरों पर गिर पड़ा। इस बार कवि ने नीचे देखा और गरज उठा—"कीड़े तेरी यह हिम्मत !" और उसने कोट पकड़ कर गुलिवर को लटका लिया। थोड़ी देर तक उसे हवा में झुलाता रहा और फिर बोला—"पटक दूँ, तेरी हड्डी-पसली बिखर जाय !" गुलिवर की घिग्घी बंध गई। कवि ने उसे एक खूँटी पर टाँग दिया। और पूछा—"कहाँ से आया है ?"

"इंगलिस्तान से !"

"इंगलिस्तान से ! अच्छा ! सुना है वहाँ के सम्राट ने मेरे लिए वारण्ट निकलवाया है। मैं सब जानता हूँ। इंगलिस्तान का सम्राट, मेरे यहाँ का सम्राट, दुनिया भर के सम्राट मेरा राज़ जानना चाहते हैं। लेकिन मैं उन्हें यूँ चुटकी में मसल दूँगा।"

गुलिवर कुछ नहीं बोला। उसके प्राण कण्ठ तक आ गए थे। इस हत्यारे काव्य-प्रेम ने उसे कहाँ ला पटका। थोड़ी देर बाद कवि ने उसे उतारकर ज़मीन पर रख दिया। "तुम भी मेरा राज़ जानना चाहते हो। भाग जाओ, अभी भागो वरना !"··· और इसके पहले कि कवि अपने विचारों को कार्यान्वित करे गुलिवर जान छोड़ कर भागा। चलते-चलते रात हो गई और वह सड़क के किनारे एक बेंच के नीचे खिन्न-मन होकर लेट रहा। उसके घुटनों और कोहनियों में खरोंच आ गई थी। वह सोचने लगा कि कितना सभ्य और शिष्ट था लिलिपुट का कवि।

रात हो गई थी और गुलिवर जाड़े के मारे ठिठुर रहा था, करवटें बदलता हुआ अपने भाग्य को कोस रहा था कि इतने में उसे लगा जैसे धरती काँप उठी हो। किसी ने अपनी विराट उंगलियों में फँसा कर उसे ऊपर उठा लिया। गुलि-

वर ने प्राणों की आशा छोड़ दी। उसने देखा कवि था।

"डरो मत।" कवि ने कहा—"तुम इतनी दूर से आये और बिना कुछ खाये-पिये चले आये। अपमान करते हो मेरा? चलो।" और वह गुलिवर को हथेली पर आराम से बिठाकर वापस ले आया। किसी तरह झुककर वह अस्तबल में घुसा और सिकुड़कर बैठ गया। कुछ घास-फूस सुलगाकर उसने बगल में एक चाय की देगची चढ़ा रक्खी थी, उसमे चाय सिझाने लगा।

गुलिवर ने अपने चारो ओर निगाह डाली। बहुत गन्दा अस्तबल था। कहते है पहले इसमे राजा के घोड़े रहा करते थे। उनके लिए अब एक नये अमरीकन स्टाइल का अस्तबल बन गया है। यह बहुत दिनों से खाली पड़ा था और कवि को जब कहीं ठिकाना नहीं मिला तो वह इसमें रहने लगा था। इस गन्दे अस्तबल में कवि तनकर तो खड़ा हो ही नहीं सकता था, उसके पांव भी कैसे फैल पाते होंगे, यह गुलिवर की समझ में नहीं आ रहा था। लेकिन इसी अस्तबल में कवि ऐसे गीत लिखता था जिसके स्वर-स्वर में लपटें धधकती हों और ऐसे गीत लिखता था जिनके बोल-बोल से अमृत छलका पड़ता हो। कवि की कल्पना कैसे ंख पसार कर उड़ पाती थी, यह आश्चर्य की बात थी; और इससे भी आश्चर्य की बात तो यह थी कि गोताखोरों के इस दरिद्र मोहल्ले और अस्तबल की इस गन्दगी से कवि कहाँ से वह रस खींच लाता है। गुलिवर को लिलिपुट के राज-कवि का वह कक्ष याद आया जहाँ रेशमी पर्दे लहराते थे, धूप-छाँह की आँख मिचौनी होती थी। कहाँ वह सौन्दर्य-कक्ष और कहाँ यह गन्दा-अस्तबल। फिर गुलिवर को याद आया कि नजारेथ के एक ऐसे ही गन्दे अस्तबल में ईसा मसीह भी पैदा हुए थे।

इतने में कवि ने कहा—"पीते क्यों नहीं चाय?"

गुलिवर ने देखा उसके सामने एक गिलास में चाय रक्खी हुई थी और वह गिलास बाल्टी से भी बड़ा था।

गुलिवर के प्राण सूख गए। "लेकिन इतना?" उसने डरते-डरते पूछा। "थोड़ा-थोड़ा करके पी लो।" कवि ने बहुत स्नेह से कहा। गुलिवर जी पशोपेश में पड़ गए। "तुम्हें पीने में दिक्क़त होगी। लाओ मैं पिला दूं।" और कवि ने जलती हुई चाय चुल्लू में ली और उसे पिलाने लगा। गुलिवर चीखा—"हाथ

जल जायगा ।" कवि हंसा और बोला—"यह हाथ जलने का आदी हो गया है। इससे भी ज्यादा जलती हुई चीजें मैं इन हथेलियों पर रोप चुका हूँ ।"

गुलिवर चाय चखते ही घबरा गया। कड़वी चाय, एक दाना शक्कर का नहीं । कवि ने उसका मुंह देखते ही कहा—"शक्कर नहीं है । पिछले साल भर से ऐसी ही चाय पीने की आदत पड़ गई है मेरी । तुम अगर कल तक रुको तो दो-एक गीत बेच कर शक्कर खरीद लाऊँगा ।"

आतिथ्य-सत्कार के बाद कवि के मुख पर एक अजब-सा आत्मसन्तोष झलक आया। वह गुलिवर से कुछ नहीं बोला पर बैठा-बैठा अपना एक गीत गुनगुनाता रहा। थोड़ी देर बाद उसने गुलिवर से पूछा—"सो जाओ अब ! लेकिन बिस्तरा मेरे पास नहीं है । खैर तुम्हारे लिए तो इन्तजाम हो सकता है ।" उसने अपना कुर्त्ता उतार कर बिछा दिया। इतना बड़ा था वह कुर्त्ता कि बिछाने और ओढ़ने का पूरा इन्तजाम हो गया । कवि नंगे बदन ही लेट रहा। गुलिवर ने कुछ बातें करनी चाहीं तो उसने डाँट कर कहा—"सो जाओ अब कल बातें होंगी ।"

गुलिवर ने करवट बदल ली । कवि भी वहीं लेट गया हालांकि उस पर्वताकार कवि की बगल में चूहे जैसा गुलिवर मन ही-मन कांप रहा था कि कवि ने करवट ली और गुलिवर जी की हड्डी-पराली का पता न चलेगा।

थोड़ी देर में पतिंगों के बराबर बड़े-बड़े खूंखार मच्छरों ने हमला किया। गुलिवर तो कुर्त्ते में लिपट गया लेकिन कवि के नंगे बदन पर मच्छर टूट पड़े । उसकी खून चूसने की आवाज इतनी भयानक थी कि गुलिवर चौंक कर जग गया। गुलिवर के उठने की आहट से कवि जग गया। उसने बदन पर हाथ फेरा। जहाँ मच्छरों ने काटा था वहाँ माँस फोड़ों की तरह फूल आया था। उसने गुलिवर से कहा—"मैं बाहर सो रहूँगा, ऐसे तो तेरी नींद में बाधा पहुँचेगी ।" गुलिवर को बड़ी आत्मग्लानि हुई। कहाँ इन परिस्थितियों में आकर वह कवि के सिर पर भार बन गया । उसने बहुत विनय की और कवि से कहा यह रात जागते-ही-जागते काटी जाय । अन्त में दोनों उठकर बैठ गये ।

गुलिवर उसे लिलिपुट के कवि की बातें बताने लगा। ब्राबडिगनेग का कवि सहसा उल्लास से भर गया—"कैसा है लिलिपुट का कवि अब ? तुम जानते हो,

वह बहुत प्रभावशाली है। संसार में एक ही कवि है जिसे मैं प्यार करता हूँ। वह है लिलिपुट का कवि।"

"हाँ वह भी आप का जिक्र कर रहा था।"

"क्या कह रहा था।" कवि ने बड़ी व्यग्रता से पूछा— "जानते हो? जिस वक्त सभी लोग नई ब्राडबिगनैगी और लिलिपुटी-भाषा का विरोध कर रहे थे, उस समय मैंने उसका और उसने मेरा साथ दिया था। लेकिन अब वह राज-पथ पर है, स्वर्णपथ पर है; मैं जनपथ पर हूँ, लेकिन वह मुझे प्यार करता है।"

"लेकिन वह तो आप के बारे में . . .'

"चुप रहो! तुम उसकी बातें नहीं समझ सकते!" कवि ने डाँटकर कहा। पर थोड़ी देर बाद वह गम्भीर हो गया और संजीदा आवाज़ में बोला—"तुम ठीक कहते हो! अब वह मुझसे नाराज है। मैं जानता हूँ वह मुझसे नाराज है। कभी-कभी विशाल और विराट होना भी बड़ा पाप होता है। बहुत से लोग जिन्हें तुम प्यार करना चाहते हो, जिन्हें तुम अपने समीप लाना चाहते हो, वे तुम्हारी विराटता समझ नहीं पाते, तुमसे चिढ़ जाते हैं, अपनी सीमित संकीर्णता की रक्षा करने में तुम्हारी विराटता को तो अस्वीकार ही करते हैं तुम्हारे स्नेह को भी अस्वीकार करने लगते हैं।" और फिर वह बहुत उदास हो गया। गुलिवर की समझ में कुछ नहीं आया पर यह कुछ बोला नहीं। कवि कहता गया—"और सच बात है, जब तक तुम्हारे साथी विराट न हों, तुम्हारा स्नेह विराट न हो, तुम्हारा वातावरण विराट न हो, तुम्हें ग्रहण करने वाली समाज-व्यवस्था विराट न हो, तब तक विराट होना अभिशाप है। लेकिन यह समाज-व्यवस्था ऐसी है कि जिसने इसको समर्पण किया वह लिलिपुट का बौना हो जाता है-अपमानव बनकर रह जाता है। और जिसने भी उसका निषेध किया, उसके विरुद्ध विद्रोह किया, वह विद्रोह में अकेला पड़ जाता है, उसे अतिमानव बनना पड़ता है। एक स्वस्थ सन्तुलन हो ही नहीं पाता, क्योंकि समाज-व्यवस्था में सन्तुलन है ही नहीं।" कवि सहसा उठकर टहलने लगा। यद्यपि अस्तबल की छत नीची थी और उसे झुककर चलना पड़ता था। गुलिवर की ओर देख कर बोला—"कितना छोटा कमरा है, लगता है इसे मैं ओढ़े हुए हूँ। लेकिन टहलने की मेरी आदत है। अच्छी आदत नहीं, जानता हूँ यह ग्रामीणता है, अशिष्टता है। मैं जानता हूँ मैंने विद्रोह न किया होता,

समर्पण कर देता तो मुझमें एक पालिश आ जाती, एक चमक, एक नागरिकता, एक शिष्टता और विनम्रता आ जाती, लेकिन ऐसे आदमी की आत्मा कायर हो जाती है। वह मन ही मन सब से डरने लगता है, सन्देह करने लगता है। दूसरी ओर जो विद्रोह करता है, उसकी आत्मा निर्भीक हो जाती है, वह तूफ़ानों को सीने पर झेल लेता है, पहाड़ों को उखाड़ फेंकता है, ज्वालाओं को पी जाता है। लेकिन उसे अकेले चलना पड़ता है, बिलकुल अकेले। धीरे-धीरे अकेलापन उसके रग-रग में बस जाता है। वह अपने से अपनी भाषा में बातें करना सीख लेता है, जीवन से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। जैसे मैं। सहज मानवीय स्तर से मेरा सम्बन्ध टूट-सा गया है। इससे क्या मुझे कम कष्ट है? और इससे भी बढ़कर कष्ट मुझे तब होता है जब मैं देखता हूँ कि मेरे अलावा लिलिपुट के कवि की अनोखी प्रतिभा कितनी ग़लत दिशा में मुड़ गई। हिरण्यपात्र के नीचे ढंका हुआ उसकी आत्मा का सत्य कितनी वेदना के छटपटा रहा है। वह वाणी का सबसे अलबेला पुत्र था। मेरी आत्मा एकान्त में उसके लिए रोती रही है।" फिर कवि की मुट्ठियाँ तन गईं और वह बाहर के अन्धकार मे देखने लगा—"लेकिन कोई बात नहीं। मैं भविष्य में देख रहा हूँ, स्पष्ट देख रहा हूँ—वह दिन आ रहा है जब यह विषमता, यह असन्तुलन समाप्त होगा। जब आदमी की आत्मा कुण्ठित न होगी, सहज सरल मानवीय स्तर पर उसका विकास होगा। मैं वह दिन नहीं देख पाऊँगा। लेकिन मुझे सन्तोष है कि मेरी हड्डियाँ उस आने वाली दुनिया की नींव बनेगी। मेरी हड्डियाँ।" सहसा उसने किसी अदृश्य की ओर हाथ फैलाकर अट्टहास किया—"दधीचि अपनी हड्डियाँ देकर मर गया था। वह देवासुर संग्राम का परिणाम देखने के लिए जीवित नहीं बचा, लेकिन उसी की अस्थियों के वज्र ने ही इन्द्र को विजय दिलाई थी। काफ़ी है! मेरे लिए इतना काफ़ी है।" और कवि घुटनों में सर झुका कर बैठ गया।

थोड़ी देर बाद भरे गले से, चौंककर बोला—"तुमने आँखें देखी हैं?"

"कैसी आँखें?"

"जिन आँखों में मैंने पहली बार इस भविष्य का सपना देखा था। देखोगे?" और उसने अपने गन्दे तकिये के नीचे से एक मुड़ा-मुड़ाया चित्र निकाला। वह एक तरुणी का चित्र था। कितनी करुण थीं उसकी बड़ी-बड़ी आँखें। गुलिवर को याद आया। लिलिपुट के कवि की प्रेमिका उससे कुछ छोटी ही थी। "यह आपकी प्रेमिका का चित्र है?"

"प्रेमिका का," कवि ने रुँधे हुए गले से तिलमिला कर जवाब दिया—"यह मेरी बेटी का चित्र है। यह बिना दवा और पथ्य के मर गई थी।" कवि ने अपनी मैली धोती से बूढ़ी पलकों में छलक आने वाला एक आँसू पोंछ लिया और सूनी-सूनी निगाहों से बाहर अन्धकार में जाने क्या देखने लगा।

थोड़ी देर बाद सहसा वह चौंका—"सुन रहे हो, यह शोर सुना तुमने ?"

गुलिवर ने चौंककर उसकी ओर देखा—"उठो, भागो,जल्दी। जाओ तुम्हारी दुनिया में एक भयानक संघर्ष शुरू हो गया है। उनका नारा है कि वे असन्तुलन और विषमता मिटाकर छोड़ेंगे। धरती खून की क़ै कर रही है और नदियाँ समुन्दर में आग उड़ेल रही हैं। जाओ, जल्दी करो। आग तुम्हारे नगर तक पहुँच गई है।"

गुलिवर चौंक कर उठ खड़ा हुआ। इतनी दृढ़ता थी उसकी वाणी में कि जैसे सचमुच वह अन्धकार में कुछ देख रहा है। भागा-भागा समुद्र तट पर आया। जहाज खोला।

थोड़ी देर बाद ब्राडबिगनैग का कवि बहुत-से फल फूल लेकर आया और रास्ते के लिए उसके जहाज़ पर रखकर बोला—"जाओ और उनसे कहना कि ऐसी दुनिया क़ायम करें इस बार कि उनमें न किसी को अपमानव बनना पड़े न अति-मानव। जहाँ सभी इस प्रेतयोनि से छुटकारा पा सकें। और रास्ते में लिलिपुट के कवि से मेरा स्नेह-वन्दन कहना और कहना कि अब नई दुनिया कायम होगी जहाँ उसकी प्रतिभा और आत्मा पर ढँका हुआ हिरण्य-पात्र भी उठ जायगा, उसकी भी मुक्ति का दिन आ गया है।"

गुलिवर चल पड़ा। इस बार उसने जब ब्राडबिगनैग के कवि को प्रणाम किया तब उसे ज्ञात हुआ कि श्रद्धा किसे कहते हैं। उसे लगा जैसे किसी विराट शक्ति ने अपनी अँगुलियों से छू कर उसकी आत्मा में भी आलोक भर दिया है, असीमता भर दी है।

उसे जल्दी थी। वह लिलिपुट न रुक कर सीधा घर आया। यहाँ पहुँचकर उसने देखा कि कुछ रक्तपात हुआ ज़रूर था पर अब सब शान्त हैं। उपद्रवी नज़रबन्द हैं। सम्राट के अधिकार सीमित हो गये हैं, अपने देश में अपना राज

है। सुप्रबन्ध इतना कि वह घर पहुँचा तो उसने देखा उसकी बीवी लापता है, मुर्गियों और बत्तखों पर पड़ोसियों ने कब्जा कर लिया है और मकान रार्शानग अफसर ने किसी दूसरे के नाम एलॉट कर दिया है।

इससे भाई गुलिवर जी के भावुक हृदय को इतना आघात पहुँचा कि वे एकाएक प्रकाशक हो गये और स्कूलों और कालेजों की पाठ्य-पुस्तकें छापने लगे।

इस तरह बहादुर जहाजी गुलिवर की तीसरी यात्रा समाप्त हुई।

हिन्दी भाषा और बंगाले का जादू

स्टीमर चल दिया था। हुगली के पानी को चीरते हुए, छोटे बड़े जहाजों के पास से गुज़रते हुए हम लोग बोटैनिकल गार्डेन की ओर जा रहे थे। कमल जोशी, बरुआ, शर्मा, त्रिपाठी एक पूरा दल उस दिन पिकनिक मनाने निकला था। हम लोग ब्वायलर के नजदीक खड़े थे और आँच लगने से पसीना आ रहा था। मैं अलग जाकर रेलिंग के सहारे अकेला खड़ा हो गया। जाने कितनी बातें मन में घूम रही थीं। विशेषतया शरत् बाबू के 'पथेर दावी' के पात्र, उसके जहाजी, उसके खानाबदोश क्रांतिकारी उस पार की जूट मिलों के धुएं में दिखाई पड़ते थे और छिप जाते थे। सहसा मेरी निगाह स्टीमर में सामने लगी एक तख्ती पर पड़ी। उस पर नागरी अक्षरों में लिखा था—"फास की लास!" 'फास की लास' क्या है? इसमें 'की' तो मैं समझता था हिन्दी की एक विभक्ति है। लेकिन 'फास' कौन चीज है? उसकी 'लास' क्या हो सकती है? शरत, पथेर दावी, सव्यसाची, अपूर्व सभी भूल गये और उस तख्ती पर मेरा ध्यान अटक गया। मैंने हिन्दी की सभी उपभाषाओं के शब्दों का स्मरण किया, लेकिन 'फास की लास' तो ऐसा गहरा 'ब्रह्मसूत्र' लगा जो सुलझाय ही नहीं सुलझता था। आप सच मानिये, मैं कितनी कम हिन्दी जानता हूँ इसका ज्ञान मुझे उसी दिन हुआ! अब मन में बड़ी झिझक कि किसी से पूछूं तो क्या कहेगा? आखिरकार मैंने किसी तरह हिम्मत बाँधी और श्री शिवनारायण शर्मा से पूछा—"यह क्या लिखा है?"

"यह ? तुम नहीं समझे ? यह है 'फ़र्स्ट क्लास' ! स्टीमर का फर्स्ट क्लास !

"फ़र्स्ट क्लास ! " मैं तो आस्मान से गिर पड़ा ! मैंने सोचा मैं अभी दौड़ कर सुनीति बाबू के बंगले पर जाऊँ और उनके दर्वाजे पर सत्याग्रह कर दूं कि "देवता! अपनी भाषा-विज्ञान की पुस्तकों में आपने कहीं उस नियम का उल्लेख नहीं किया जिसके अनुसार फ़र्स्ट क्लास का रूपान्तर 'फास की लास' हो जाता है !"

लेकिन मेरे कलकत्तेवासी मित्रों ने बताया कि ऐसी हिन्दी कलकत्ते वालों के लिये कोई नई बात नहीं ! बंगाल ने भारतीय संस्कृति को जो अमूल्य देनें दी हैं, उनमें से एक यह भी है। उन्होंने अपनी भाषा में तो जो किया उसकी बात जाने दीजिये, वे अगर चाहें तो ऐसी हिन्दी लिख दें कि बड़े-बड़े हिन्दी वाले गच्चा खा जायं और उसका कोई तात्पर्य न निकले ! इसी को हमारे पूर्वज 'बंगाले का जादू' कहते हैं। छूमन्तर किया कि भाषा बदल गई। आपके सामने कुछ नमूने पेश करता हूँ ।

मैं उम्मीद करता हूँ कि आप जूते पहनते ही होंगे । अपने तो खैर पहनते ही होंगे !, भूल भटके दूसरों के जूतों में कभी-कभी पांव चला जाता होगा । आप जूते के तल्ले, जूते की पालिश, जूते की ठोकर, जूते की एड़ी वग़ैरह से भी परिचित होंगे। लेकिन क्या आप बता सकते हैं "जूते का मेरा मात" कौन चीज़ होती है ? सोचिये ! मैं शर्त लगा सकता हूँ कि आप हिन्दी के बड़े से बड़े शब्दसागर उलट डालिये, बाटा की हर एजेंसी में पूछ आइये, मुहल्ले के बूढ़े से बूढ़े मोची से हाथ जोड़ कर यह भेद मांगिये पर आपको "जूते के मेरा मात" का पता नहीं चलेगा। लेकिन कलकत्ते जाइये, वहाँ आपको बंगालियों की जूते की दूकानों पर अक्सर लिखा हुआ मिलेगा—"इआहां जूता का मेरा मात होता हाए ! " इसको यदि आप खड़ी बोली में अनुवादित करें तो इसका अर्थ होगा—"यहाँ जूते की मरम्मत होती हैं।"

अगर आप बहुत संकीर्ण मना हैं, आप में प्रांतीयता की भावना है तो आप बंगालियों की निन्दा करने लगेंगे कि ये लोग हिन्दी का रूप बिगाड़ते हैं। लेकिन यह आपका अन्याय है। वास्तव में वे लोग उसे अपने सुसंस्कृत ढंग से लिखते हैं और उन्हों ने हिन्दी भाषा को जैसे नये-नये शब्द, रूप और व्याकरण-तत्त्व दिये हैं उसके लिये आप का सर अहसान के बोझ से झुका हुआ होना चाहिए, उसके बजाय आप उनकी निन्दा करेंगे ? अगर इसे कृतघ्नता नहीं कहते तो और किसे कहेंगे ?

एक हुए हैं ग्रियर्सन। सर जार्ज ग्रियर्सन! उन्होंने २० मोटे-मोटे ग्रंथों में देश भर की भाषाओं का और हिन्दी की तमाम उपभाषाओं का उल्लेख किया है, परिचय दिया है, नमूना दिया है, लेकिन हिन्दी के इस बंगाली रूप को वे बिलकुल छोड़ गये। इसको सिवा पक्षपात के और क्या कहा जाय!

बंगाली लोग हिन्दी के शब्दों को कैसे सुधार कर सुन्दर बना देते हैं, इसका दूसरा नमूना लीजिये। हिन्दी में 'फ़ायदा' बहुत प्रचलित है। लम्बा चौड़ा बेडौल, बेतुका। बंगालियों ने उसे कितना सुधार दिया है। कलकत्ते के सुन्दर होमियो हाल की नोटिस में कोई जी० प्रसाद के खत का उल्लेख है जो कहते हैं—"आप के यहाँ का दवा व्यवहार करके मुझे बहुत फ़ैदा हुआ!"

देखिये—जरा से परिवर्तन से शब्द कितना सुन्दर हो गया। अब मान लीजिये आप कोई कविता लिख रहे हैं। पंक्ति के अन्त में 'शैदा' आता है। आप तुक ढूंढ़ते ढूंढ़ते परेशान हैं। 'मैदा' या 'पैदा' के अलावा कोई तुक ही नहीं मिलता। अब आप चाहें ठाठ से 'फैदा' रखकर चार पंक्तियों का पद्य पूरा कर लें! शैदा, मैदा, पैदा, फैदा,। अगर सुन्दर होमियो हाल के बंगाली नोटिस लेखक ने फ़ायदा शब्द का यह नया रूप आपके सामने न रक्खा होता, तो चाहे आप कितना सर पटकते आपकी कविता कभी न पूरी होती और आप कवि बनने से वँचित रह गये होते।

खैर यह तो एक-आध शब्द या एक आध वाक्य का नमूना है। लेकिन यदि एक पूरा गद्यांश इस भाषा में लिखा जाय, तब तो सौन्दर्य का जादू भाषा पर छा जाता है। मैं तो उस अभूतपूर्व सौन्दर्य से पूर्णतया वंचित रह जाता, अगर उस दिन मेरे प्रिय मित्र श्री नेमिचन्द्र जैन ने मेरा ध्यान एक नोटिस की ओर न दिलाया होता। यह नोटिस १३ खारापटी स्ट्रीट, कलकत्ता के कविराज श्री अमूल्य धन-पाल की एक विशेष दवा की नोटिस थी जो पता नहीं नेमि जी को कहां से प्राप्त हो गई थी और अमूल्य धनपाल की उस नोटिस को अमूल्य धन की तरह सहेजे हुए रक्खे थे।

उस नोटिस में सबसे ऊपर अंग्रेजी, बीच में बंगाली और सबसे नीचे हिन्दी में विज्ञापन था जिसकी अविकल प्रतिलिपि इस प्रकार है:—

कलिकत्ता सरकारी मेडिकल कलेज से मोलाहाजा होकर तारिफ़ हुआ सोने का मेडल मिला और सारकार में रेजेष्टारी हुआ—

बेङ्गल शटी .फ़ुट

लड़का भाले का बीमारी आदमी का सिरिफ़ एही हाल को श्री पोष्टाई खाना है बांगला गभर्णमेण्ट का इनस्पेक्टर जनारल अब सिभिल हस्पिटाल समूह हिन्दुस्थान का फुड प्रडाक्ट का प्रदर्शनी, बड़ें बड़े डाक्टर कविराज लोगो ने इस फुड की सिप्रास किया है। खाने का तरकिब—इस फुड का एक भाग बो १६ भाग इया पानी अच्छी तरह से मिलाकर माटी, इनामेल इया एलमिनियम का बर्तन में १० मिनिट तक पाकाय के पारा चिनि इया मिश्रि मिला कर तब। १५ मिनिट बाद उतारने होगा। ठाण्डा होने से खाना।

श्री अमुल्य धन पाल।
आफिस-१३ खारा पटी ष्ट्रीट,
कलिकत्ता
जेनारल मारचेन्ट अरडार सापलवर एण्ड कमिसन एजण्ट

अब चाहे हिन्दी के आलोचक मानें या न माने, लेकिन कविराज अमूल्य धन पाल ने हिन्दी गद्य के बड़े बड़े शैलीकारों का घमंड तोड़ दिया है। यह है बंगाली का जादू! आप लाख साफ़ सुथरी हिन्दी लिखें, लेकिन यह रवानी, यह असर आपकी भाषा में आ नहीं सकता। पहली बार यह भाषा पढ़कर मुझ पर क्या असर हुआ अगर मैं उसी शैली में असफल रूप से कहने का प्रयास करूँ तो इस प्रकार होगा—

"नेमि बाबू का दूकान में नोटिस पढ़ता इया देखना भर से दिमाग ठाण्डा होना। बेहोसी होता होता बाचा। भागा तब।"

मैं तो साहब सोच रहा हूँ कि अगर अपनी शैली में भी वही जोर लाना है तो कम से कम बंगल शटी फुड 'पोकाय' के खाना तो शुरू ही कर दूं! मैं हिन्दी के अन्य गद्य-लेखकों से भी इसका 'सिप्रास' करता हूँ।

डाकखाना मेघदूत-शहर दिल्ली

रीतिकाल मे एक महाकवि देव हो गए हैं। उन्होंने अपन मन को ललकार कर कहा था कि 'अगर तेरी इन हरकतों का ज़रा सा अन्दाज मुझे होता तो तेरे हाथ पाँव तोड़ डालता!' एक मेरा मन है। दस बार हाथ पाँव तोड़ कर डाल दिया गया, पर अपनी हरकतों से बाज नही आता। अभी उस दिन की बात है कि कागज़ क़लम लेकर बैठा कि आस्था-अनास्था, दायित्व,-स्वातन्त्र्य, लौकिक-अलौकिक, नवीन-प्राचीन, किसी विषय पर कोई महत्त्वपूर्ण विचारोत्तेजक बात कह सकूँ। पर देखा क्या कि हफ़्तों की कड़ी धूप के बाद गहरे जामुनी रंग के परत के परत बादल उड़ते चले आ रहे हैं। दूर कहीं बारिश हो चुकी है, क्योंकि फुहारों भरी पुरवाई मचलती चल रही है। बस, बहक गया मन। हटाओ यार, क्या रक्खा है विचारोत्तेजन में—एक प्याला चाय, और कुर्सी पर पड़े-पड़े उड़ते बादलों के साथ बहते जाना।

सुबह का अखबार आया। एक उचटती निगाह डाली। उठाकर अलग रख दिया। उँह, होगा। पर यह क्या है? पहले ही पृष्ठ पर एक तस्वीर। बड़े बड़े अक्षरों में अन्दर लिखा है "मेघदूत।" मन खिला। पता नहीं पत्रे के लिहाज से कौन सा दिन है आज, पर मौसम के लिहाज से तो निस्संदेह आषाढ़ का पहला दिन है—और लीजिये अखबार में मेघदूत भी आगया। ग़ौर से देखा,

चित्र का परिचय प । मालूम हुआ मेघदूत एक बहुत बड़ी डाकखाने की लारी का नाम है जिसमें दिल्ली-वासियों के लिये एक चलता-फिरता डाकखाना खोला गया है। वह चौराहे-चौराहे जायगा। पोस्टकार्ड, लिफ़ाफ़े, टिकट बेचा करेगा। पत्र, पैकेट, रजिस्ट्री, सन्देश जमा करेगा।

सूझ देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। आनन्दाश्रु झलक आये। कहाँ है भारत ऐसा देश जहाँ का डाकविभाग भी साहित्य, संस्कृति और सौन्दर्य-बोध में गले तक डूबा हुआ है! कहाँ है दिल्ली ऐसी राजधानी जहाँ गली-गली, चौराहे-चौराहे संस्कृति के देवदूत भोंपू बजाते हुए घूमते रहते हैं! पेरिस, रोम, मास्को, बर्लिन, पेकिंग वाले अपने कला-प्रेम का बड़ा डंका पीटते हैं। आयें ज़रा हमारी दिल्ली भी देखें!

पर नहीं, फिर भी हिन्दुस्तानियों को समझाना साहब बड़ी टेढ़ी खीर है। ऐसे कितने ही लोग हैं जिनको लाख समझाइये पर यह बात उनके गले ही नहीं उतरती कि दिल्ली राजनीतिक ही नहीं सांस्कृतिक राजधानी भी बन गई है। पिछले दिनों तो इस किस्म के निन्दनीय उद्गार खुद दिल्ली के अख़बारों में ही देखने में आय कि "दिल्ली में साहित्यिक वातावरण नहीं, यहाँ नेताओं, मिनिस्टरों, राजदूतों के पीछे-पीछे लेखक घूमते रहते हैं, यहाँ साहित्य पर भी सरकारी दफ़्तरों की छाप है, "सीनियारिटी" के ही लिहाज़ से मान्यता मिलती है, साहित्य में भी सिफ़ारिश, मस्केबाजी, रिश्तेदारी, प्रान्तीय अनुपात से प्रतिनिधित्व का दौर-दौरा है—आदि-आदि।"

अब आप ये बताइये कि यह सब है भी तो क्या? आप साहित्यिक राजधानी क़ायम करने जा रहे हैं कि कोई साहित्यिक खेत खलिहान जहाँ क़लम के मजदूर फावड़ा लिये नई फ़सल उगाने में जुटे हों। अब, राजधानी में राजमार्गों पर राजकवि गले में कीमती दुपट्टे डालकर राजपुरुषों के साथ न घूमें तो क्या निराला की तरह कड़ी धूप में, खुले बदन, नंगे पाँव, लुंगी लगाये हमारे आपके साथ घूमें। अरे भाई, दिल्ली में आये दिन चार बाहर के लोग भी आते-जाते रहते हैं। उनके सामने आप एक अच्छे व्यक्ति को तथा शुभ्र वेशधारी, लम्बे तड़ंगे कद्दावर सीनियर कवि को न पेश करेंगे तो क्या अपनी बदनामी करायेंगे। सीनियारिटी के आधार पर साहित्य में मान्यता न दी जाय! क्यों न दी जाय साहब? ये जो कल के छोकरे हैं, जिनकी दूध की दँतुलियाँ भी अभी नहीं टूटी हैं—और नयी कविता, नया साहित्य, नया मूल्य चिल्लाते घूमते हैं, आस्मान सर पर उठा

रक्खा है—इनको मान्यता दी जाय ? पर ये राजधानी में हैं किस काम के ? दरबार का अलक़ाब आदाब जानते नहीं, जुहार कैसे करनी चाहिये, सर कहाँ झुकाना चाहिये, कैसे वज़ीरों की लगो से लगो बात पर वाह ! वाह ! से आस्मान गुँजा देना चाहिये, कैसे बैंगन को अच्छा भी कहना चाहिये, बुरा भी—यह सब कभी सीखा भी है ? सीखने के नाम पर तो दुम दबाकर भागते हैं। किसी की बात मानेंगे नहीं, अपनी हाँकते चले जायेंगे। जबान पर कोई लगाम नहीं—किसी बाहर वाले के सामने ऐसी-वैसी बात कह बैठे, चलिये सब बना बनाया खेल ख़त्म। राजधानी में तो ऐसे लोगों को घुसने नहीं देना चाहिये। अगर घुस भी आयें तो इन्हें दबाकर कड़ी निगरानी मे रखना चाहिये, और जिन शहरो में ऐसे ख़तरनाक सरकश लोग खुले आम घमते-फिरते हों उनमें तो साहित्यिक, आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक किसी किस्म की राजधानी बनाने का ख्याल तक स्वप्न में भी न लाना चाहिये।

मैं, भइया, ऐसे लोगों के सख़्त खिलाफ़ हूँ। हाँ ग़लती से कभी-कभी नयी कविता, नयी पीढ़ी, नये मूल्य इस प्रकार के बुरे-बुरे शब्द मेरे मुँह से ज़रूर निकल गये हैं—पर विश्वास कीजिये महज़ जोश में—कुसंग का फल, नादानी और क्या ! पर इस समय चाय का एक गर्मा-गर्म प्याला सामने है, कुर्सी पर आँख मूँदे लेटा हूँ, बादल बहते चले जा रहे हैं—प्रगति, प्रयोग, नयी कविता आदि की ऐसी-तैसी—इस समय तो बिल्कुल आँख मूँद-कर "बाबावाक्यम् प्रमाणम्" के मूड में हूँ और मेरे बाबा ने 'मलका विकटूरिया' के ज़माने में एक मकान बनवाया था जिसमें सबके ऊपर लिखवाया था—" ओम् सत्यमेव जयते नानृतम" और उसके नीचे लिखवाया था, "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा।" पहला वाला तो आँधी-पानी, धूप-बरसात में मिट गया, दूसरा वाला रह गया। वह बाप-दादों की परम्परा में मिला है—क्यों छोड़ूँ ? कुछ दिनों तक अधकचरी उम्र में सुभाष बोस का भी आराधक रहा हूँ। अब पके हुए दिमाग़ ने उनके उपदेशों की गर्मागर्म वामपक्षीयता, जन-प्रेम, सर्वस्वत्याग वग़ैरह-वग़ैरह बेकार की चीजें तो भुला दीं; सिर्फ़ सार याद रह गया है—चलो 'दिल्ली ! चलो दिल्ली ! !

सो मैं तो दिल्ली जाऊँगा ! चलते समय हितैषी, शुभचिन्तक, दोस्त अहबाब समझायेंगे—"लौट चल, घर लौट चल पागल प्रवासी !" मैं कहूँगा, चुप रहो ! मैं तो जाऊँगा। गा कर कहूँगा—"कैसे रुकूँ मैं आज तट पर आज लहरों में निमन्त्रण"—जाऊँगा; और नहीं तो कम-से-कम राजधानी के टेढ़े-मेढ़े रास्तों

ार 'चौमुख दियना बार, खड़े खड़े अपलक प्रतीक्षा करने के लिये दिल्लीवाले मेघदूत की ! सबसे पहले भोर का तारा जैसा एक सुन्दर सुकुमार उद्घोषक आयगा जिसके हाथ में एक महाकवि की रेडियो रिकार्डिंग होगी। (रिकार्डिंग इसलिये कि महाकवि विदेश गया है।) रिकार्डिंग बजते ही ज्ञात होगा कि महाकवि युग को ललकार कर कह रहा है, "ओ जनता ! सड़क खाली करो कि सिंहासन आता है। ओ मूर्ख, भीड़वाली अशिक्षित जनता !" जनता घबड़ाकर किनारे हो जायगी। फिर खाली सड़क पर सुन्दर रबरवाले टायरों पर मृदु-मृदु संचरण करते हुए नया मेघदूत आयेगा। उस युग-सन्देशवाही मेघदूत का तौर, तरीक़ा, रंग, डिज़ाइन, कट सब कुछ अनोखा होगा। साधारण डाकखानों में चित्रमय पोस्टर लगे रहते हैं कि कसे ठीक पता लिखना चाहिये, कैसे खत छोड़ना चाहिये। इसमें एक कोने पर, बजाय पोस्टर के एक पूरी साइज़ का असली सुन्दर विरही मोम का बना हुआ होगा जिसके हाथ में एक प्रणय-पत्रिका होगी। बटन दबाते ही वह झुककर नमस्कार करेगा और प्रणय-पत्रिका लेटरबक्स में डाल देगा। फिर बटन दबाते ही वह मुड़कर जनता की ओर देखकर पलक झपकायेगा, मोम की आँख मटकायेगा, मुस्करायेगा, मुँह बिचकायेगा,। जनता हर्षध्वनि करेगी, औरतें हँसते-हँसते लोटपोट हो जायेंगी। बच्चे खुशी से नाचने लगेंगे, चारों तरफ़ से कैमरे की 'क्लिक' होगी, फ़्लैश चमकेंगे, तस्वीरें उतर आयेंगी, विदेश भेजी जायेंगी। भारत की जनता कितनी खुशहाल है ! दिल्ली में सांस्कृतिक आयोजन कितनी धूम-धाम से होते हैं ! "सांस्कृतिक, साहित्यिक डाकखाने मेघदूत का जनता द्वारा अभूतपूर्व स्वागत !"—"लाखों की भीड़ उमड़ पड़ी !" भारत समाचार ! एक आना ! एक आना ! भारत समाचार !

सो मेघदूत तो यह !

और कालिदास ?

मालूम हुआ कि अन्दर जो इसके इन्चार्ज पोस्टमास्टर हैं वही तो हैं कालिदास ! मैं अत्यन्त उत्सुक होकर अन्दर जाता हूँ। चेहरा कुछ पहचाना हुआ सा लगता है। अरे ! ये तो वही हैं। पहले गाँधीवादी, फिर आतंकवादी फिर मार्क्सवादी—फिर सब कुछ छोड़ कर प्रगति-प्रयोगवादी कविताएँ लिखने लगे थे। ये तो खासे विद्रोही थे—'पुराणमित्येव न साधु सर्वम् न चापि सर्वम् नवमित्यवद्यम्" का प्रचार करते थे। ये यहाँ कैसे घुस पाये ?

कालिदास भी पहचान जाते है। खुश होकर बिठाते है। घुल-घुलकर बातें होती हैं। बताते है कि पिछले रिकार्ड की वजह से दिक्कत थी। सरकार कम्युनिस्ट समझती थी। फिर एक तरकीब सूझी। "अभिनव मेघदूत उर्फ़ एक अफ़सर का रोजनामचा" नामक एक नयी पुस्तक लिखी। उस पर अपने प्रान्त के एक एम् पी. से भूमिका लिखवाई कि वास्तव मे यह मेघदूत की नयी राष्ट्र-निर्माणपरक व्याख्या है। किस तरह यक्ष की ग्रेड मे काम करनेवाला एक सरकारी कर्मचारी अपनी लापर्वाही से मालिक को नाराज कर देता है—उसका तबादला रामगिरि नामक दूर एक निर्जन पहाड़ी तहसील मे कर दिया जाता है, बीवी को दिल्ली में ही रोक लिया जाता है। कुनमुना कर रह जाते हैं मियाँ। रोते कलपते दिन बिताते हैं, सूख के काँटा हो जाते है, छट्ठी का दूध याद आ जाता है। सर झुका के नाक रगड़ते हैं, हा हा खाते हैं, हुजूर अब की ग़ल्ती हुई सो हुई, अब की हो तो सस्पेण्ड कर दें। तब जाकर मिनिस्टर माफ़ करता है। कितना दयालु है! जनता का है न?

छपने पर एक मित्र आलोचक ने रिव्यू कर दी कि इसमें नए भारत के नये मानमूल्य हैं। यह तो राष्ट्रीय काव्य होने लायक है। इस भूमिका और रिव्यू के साथ किताब भेज दी—सरकार ने पुस्तक प्रौढ़ शिक्षा के लिये खरिदवा ली, लेखक को डाकखाने में नौकरी दे दी।

कथा सुनकर चित गद्‌गद् हो जाता है। ऐसे प्रतिभाशाली लेखक और ऐसी लेखक-परवर सरकार मिलेंगे कहाँ सिवा दिल्ली के? फिर भी कुतर्की लोग रट लगाये हैं कि दिल्ली साहित्यिक राजधानी नहीं हो सकती। क्यों नही हो सकती साहब? कोई वजह भी है या महज आपकी ज़िद?

मैं विस्मय-हत इस नये मेघदूत को देख रहा हूँ। बाहर से, अन्दर से—अपूर्व, अद्‌भुत, अद्वितीय, अकल्पनीय। अकस्मात् मेघदूत स्टार्ट होता है, भोंपू बजाता है—हटो बच्चो, ए बच्चे, ए बुड्ढ़ऊ! अरे भइया अपने बाँएँ चलो वरना कुचल जाओगे—नये भारत का नया सरकारी मेघदूत आ रहा है! हट जा बच्चे वालिये, हट जा पुत्तों प्यारिये! हटो बाछा! जान देनी है क्या?

यू० एन० ओ० में हिन्दी पर मुकदमा !

इधर एक नया गुल खिला है उत्तर प्रदेश (भूतपूर्व युक्तप्रान्त) की एसेम्बली में ! एसेम्बली के एक बहुत पुराने और पुरलुत्फ़ सदस्य हैं कानपुर के मौलाना हसरत मोहानी साहब । बुजुर्ग हैं, पुराने मशहूर शायर हैं, ज़माना देखे हुए हैं और समय के चढ़ाव उतार ने हालांकि चेहरे पर झुर्रियाँ डाल दी हैं और बालों में कहीं कहीं पर सफ़ेदी झलकने लगी है लेकिन दिल इतना जवान है कि ज्वालामुखी शर्मा जाय । मोहानी साहब कभी भी अपने वक्त के पीछे नहीं रहे । एक ज़माना था कि आप भी "गांधी के साथ थे, गो गर्देराह थे मगर आंधी के साथ थे ।" लेकिन कांग्रेस ने जब लड़ाकू रास्ता अख्तियार किया तब आप ने मुस्लिम लीग पर हाथ रखा और वह आप की छत्रछाया में पनपने लगी । विभाजन के बाद पहले तो आपने भारत के प्रति वफ़ादारी की शपथ लेने में बड़ी आनाकानी की । पर खैर इसके सिवा चारा ही क्या था । लेकिन उसके बाद भी असेम्बली में (अपने तथाकथित अ-साम्प्रदायिक, सीक्यूलर-राज्य की असम्बली में) आप समय समय पर शुद्ध साम्प्रदायिक विचारों का झण्डा ऊँचा करते रहे हैं । इधर मुस्लिम लीग का स्वरूप बदला तो अब आप अपने को वामपक्षी घोषित करने लगे हैं । (वामपक्ष बेचारा भी रोता होगा अपनी किस्मत को ।)

मौलाना हसरत मोहानी साहब का नवीनतम शिगूफ़ा यह है कि वे हिन्दी

के खिलाफ़ मरते दम तक लड़ने का ऐलान कर बैठे हैं । अभी हाल में असेम्बली में प्रधानमंत्री माननीय पन्त जी से आपने कहा कि उत्तर भारत की वास्तविक भाषा उर्दू है और राजभाषा के रूप में किसी पर भी हिंदी भाषा लादने का अधिकार पन्त जी को नही है । और जब उनकी इस बात को लोगो ने तर्क से काट दिया तो आप निहायत संजीदगी से गुस्सा हो कर बोले, "मै इस मामले को यू० एन० ओ० तक ले जाऊंगा और वहां हिन्दी के खिलाफ़ मुकदमा दायर करूँगा ।"

मोहानी साहब के मुह मे घी शक्कर, कहीं सचमुच यह मामला वे यू० एन० ओ० में ले जायं तो बड़ा आनन्द आए! मेरा ख्याल है कि उन्हे पूरी तैयारियों के साथ जाना चाहिए । एक तो वे अच्छा सा दुभाषिया लेते जायं जो उनकी सलीस उर्दू को उतनी ही लोचदार अंग्रेजी में व्यक्त कर सके । इसके साथ उर्दू भाषा और उसमे लिखे गए महान साहित्य के जितने सांस्कृतिक प्रतीक है वे भी उनके साथ होने चाहिए । ताकि नार्वे से ले कर फ़िलिप्पाइन्स तक के प्रतिनिधि उनको देख कर उर्दू की महानता से प्रभावित हो सके । सब से पहले वहां एक तख्त पर क़ालीन बिछवा कर, मसनद लगवा दी जाय और नीचे एक बड़ा सा उगालदान हो। बग़ल में एक शाही हुक्क़ा हो और लखनऊ का खमीरा। उसके साथ ही उनके आसपास चन्द शायर हों, पट्टेदार बाल, दुपलिया टोपी, मुंह में पान की गिल्लौरी, आँखों मे सुरमा । साकी, मीना और साग़र तो खैर होगा ही । एक तरफ़ एक गुलदान में थोड़े से गुल सजे हों और दूसरी तरफ़ एक बड़े से पिंजड़े में थोड़ी सी बुलबुलें भी कफ़स में कैद हों। थोड़ी दूर हट कर फ़र्श पर एक चिड़ीमार (सैयाद) बैठा हो जिसके पास एक कमान हो और छः-सात सरकण्डे के तीर। हूरें और ग़िल्में भी हों, बशर्ते ग़िल्मों के लिए अमेरीका में कोई विरोधी कानून न हो तो।

फिर उसके बाद प्रेसीडेन्ट की अनुमति लेकर मौलाना साहब बोलने के लिए खड़े हों । उनके खड़े होते ही उनके आसपास बैठे हुए चार पांच शायर एकाएक चीख मार कर रोने लगें । देश विदेश के प्रतिनिधि घबरा जायं और यदि कोई महिला प्रतिनिधि हो तो उसे फ़िट आ जाय । सभापति जब इस भयंकर रोदन का कारण पूछें तो शायर लोग हिचकियां लेते हुए कहें—"हुजूर मोहानी साहब का रुतबा आफ़ताब और महताब से टक्कर लेता है । आपने उन्हें खड़े हो कर बोलने के लिए कहा । हमारी क़ौम का सर नीचा हो गया, इज्ज़त लुट गई ।" और उसके बाद फिर वे जोर जोर रोने लगे । जैसे तैसे उन्हें चुप

कराया जाय और सभापति उनसे प्रार्थना करे कि अच्छा आप बैठ कर ही तकरीर फ़रमायें। उसके बाद मोहानी साहब एक मसनद पीछे, एक बग़ल में लगा कर बैठें और एक छोटा तकिया उठा कर गोद में रख लें और उस पर कोहनी टेक कर नाज़ो अन्दाज़ से अपना भाषण शुरू करें।

उनके धुआंधार भाषण का आधार-तर्क यह हो कि 'वास्तव में उर्दू ही उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि आदि देश प्रदेशों की भाषा है। जनता उसी में बोलती है और अगर यकीन न हो तो यह चिड़ीमार साकिन.....मौजा..... तहसील.....का यहां हाजिर है, यह शुद्ध जनता का बेहतरीन नमूना है इसकी बोली आजमा कर देख ली जाय।' उसके बाद उस चिड़ीमार को दो चार वाक्य बोलने के लिए मजबूर किया जाय। वह बेचारा कांपता हुआ उठे और कहे "राम जाने, एत्ते फिरंगी तो एक साथ हमरे बाप दादौ न देखे होइहैं। राम भला करैं बड़े नौआब साहब (मतलब मोहानी साहब) का जौन हमके ई अमरीका,-बिल्लाइत घुमाय दिहिन, नहीं तो ऊ खदेरुआ की माई तो रोजे हमके कोंचा करत रही कि तोहरे किये तो........" बस इतने में मोहानी साहब की आंख का इशारा पा कर वह चुपचाप बैठ जाय और दुभाषिया इस चिड़ीमार के वाक्यों का अंग्रेजी में इस तरह अनुवाद करे—"जनाब फ़िरंगी साहब, हमारे बाप दादों की ज़ुबान उर्दू रही है। हमारे कौम के एक मशहूर राजा रामचन्द्र जो अवध के ताल्लुक़ेदार थे वह भी उर्दू मे कलाम कहा करते थे। उनका दीवान एक वाल्मीकि नाम के शायर ने अपने नाम से छाया करा लिया। खुदा भला करे बड़े नवाब मोहानी साहब का जिन्हांने अमेरीका आकर हमारी ज़ुबान का मसला पेश किया।"

यू० एन० ओ० के सभी प्रतिनिधि इससे बहुत प्रभावित हों और भारत सरकार के अन्याय पर शर्म-शर्म की आवाज बुलन्द करें। मोहानी साहब को और भी जोश आये और वह बोलें—"अब आप लोग कुछ उर्दू शायरी की भी बानगी देखें। आप देखें कि उसमें क्या असर है।" और उसके बाद वे अपनी चन्द रुबायात और गज़लों का सस्वर पाठ करें और सभी आसपास बैठे हुए शायर, "वाह! वाह! मुकर्रर इरशाद" आदि से पूरा हाल गुंजा दें। आल इंडिया रेडियो के अधिकारी फ़ौरन दौड़ कर उस मुशायरे को रिले करने लगें। थोड़ी देर बाद जब मोहानी साहब और भी उर्दू शायरी के बेहतरीन नमूने पेश करें और कहें—"तोड़ दिया जब दम बुलबुल ने" उसी समय पिंजरे में कई बुलबुलें तड़प कर दम तोड़ दें। कई महिला प्रतिनिधियों को फिर फ़िट आ जाय और कई अमरीकी वैज्ञानिक दौड़ कर उन मुर्दा बुलबुलों को उठा ले जायं और

उनकी परीक्षा करें कि आखिर यह अणुबम और हाइड्रोजन बम से भी भयानक अस्त्र क्या है कि अनदेखे ही जानवरों को मार डालता है। सैयाद (यानी चिड़ीमार) उन वैज्ञानिकों के पीछे दौड़े—"हाय! इन बुलबुलों को कहाँ लिए जाते हो? अच्छा, कम से कम दुअन्नी बुलबुल के हिसाब से दाम तो दिए जाओ।" इतने मे इस शोरगुल के बीच से रूसी प्रतिनिधि की कड़ी आवाज़ सुनाई पड़े—"मैं मोहानी साहब को उर्दू का प्रतिनिधि नही मानता हूँ। ये उर्दू की प्रतिगामी शक्तियों के प्रतीक है। उर्दू के नये शायर ज़्यादा उदार और जनवादी है। शायद उन्हें आने के लिए पासपोर्ट भारत सरकार ने नहीं दिया। मोहानी साहब को अमेरिका ने शायद षड़यंत्र कर के बुलाया है।"

इस बात पर कई ओर से विरोधी आवाजे आये और फिर रूसी प्रतिनिधि कहे—"कुछ देश हमें यह धमकाना चाहते है कि उनके साथ अणुबम आदि के अलावा ऐसे शायर भी हैं जो अपनी शायरी से बुलबुल वग़ैरह को मार सकते हैं। रूस इससे डरता नहीं। हमारे पास भी ऐसे ऐसे लेखक हैं जो समुद्रों में मछलियों को मार सकते हैं, पनडुब्बियों को डुबा सकते है, और पिछले सितम्बर में कैस्पियन सागर के तट पर हमने ऐसे लेखकों की रचनाओं का सफल आक्रमणात्मक प्रयोग किया था।"

रूसी प्रतिनिधि की इस बात पर तमाम यू० एन० ओ० के प्रतिनिधि दहशत खा जायें, उनकी घिग्घी बंध जाय। मोहानी साहब के साथ वाले शायर ऐसे-ऐसे रूसी लेखकों का हाल सुन कर बेहोश हो जायं और मोहानी साहब आंखें फाड़े, मुंह बाये, मसनद लगाये गुमशुम बैठे रहें। चिड़ीमार बेचारा यह आलम देख कर जान छोड़ कर भागे और बाहर खड़े हुए हज़ारों, लाखों पत्रकार और फ़ोटोग्राफ़र उसी को मोहानी साहब समझ कर उसकी तसवीर खीच लें और आधे घण्टे के अन्दर तमाम अमेरीका के अखबारों के विशेष संस्करण हों जिनमें मुखपृष्ठ पर उस चिड़ीमार के भिन्न भिन्न पोज़ के चित्र हों जिनके नीचे लिखा हो—"भारत की सच्ची जनभाषा के प्रबल समर्थक मौलाना हसरत मोहानी साहब।" और उनके इतने चित्र छपें, इतने चित्र छपे जितने कि ग्रेटा गार्बो और विवियन ले के भी न छपे हों, जितने हिन्दुस्तान में सुरैया और रेहाना के भी न छपे हों। हालीवुड की सैकड़ों विवाहेच्छुक अभिनेत्रियाँ उन्हें आग़ा खां और प्रिन्स अली का रिश्तेदार समझ कर रीता हेवर्थ की भाँति, अखबारों से उनका पता और होटल के कमरे का नम्बर पूछने लगें!

मेरी राय से तो हसरत मोहानी साहब को जल्दी से जल्दी अमेरिका चलने की तैयारी करनी चाहिए। वक्त का क्या भरोसा। एक दिन अपना नहीं होता। लगे हाथ यह भी जियारत हो जाय। अरे हिन्दी उर्दू का मसला तय न भी हो तो क्या "रिन्द के रिन्द रहे हाथ से जन्नत न गई।"

नूतन काव्य शास्त्र

▲

दिनकर जी की 'उजली आग' मे एक गद्यखण्ड है जिसका शीर्षक है 'नवीन काव्य शास्त्र।' उसम प्रस्तुत शैली में नये कवियों के लिये कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण उपदेश हैं—"जैसे उसे प्रतिमाएं नहीं तोड़नी चाहिये, ज्ञान के पीछे नही भटकना चाहिये, शंका और विद्रोह नही करना चाहिये।" उसका अन्तिम वाक्य है "वीर वह है जो अपने प्रतिपक्षी के लिये आधी सहानुभूति रक्खे।" उसी वाक्य के आगे से मैंने लिखना प्रारम्भ किया है—दिनकर जी की स्थापनाओं का अपने तर्कों द्वारा समर्थन करते हुए—पर शैली उन्हीं की है। यह बात दूसरी है कि मेरे अनभ्यस्त हाथों में वह शली बिगड गयी हो। इसलिये उसे पढ़ कर पाठक इसे पढ़े तो सम्भव है उसके आलोक में यह कॉच का टुकड़ा भी जगमगा उठे।

—लेखक

नूतन काव्यशास्त्र

और मुझ जैसे प्रबल प्रतापी सूर्य का प्रतिपक्षी कौन हो सकता है सिवा मेरे ? वीर मैं हूँ मेरा एक अंश मेरा प्रबल प्रतिपक्षी है और आधी सहानुभूति उसके लिए है।

इस तरह मेरी सहानुभूति का अर्द्धांश मेरे लिए है, और मेरी सहानुभूति का द्वितीयांश मेरे लिए।

कुल जमा मेरी सारी सहानुभूति मेरे लिए है।

और मैं अपने को उपदेश क्या दूँ ? अपने को तो सहानुभूति देता हूँ। उपदेश तो हमारे ज्ञान का वह अंश है, जिसे हम अपने लिए निरर्थक समझ दूसरे को बाँट आते हैं। यह उपदेश तू ले जा।

भविष्य की आशा मुझ पर नहीं, तुझ पर है। तेरे कंधे मजबूत नहीं होंगे तो मैं उपदेश किस पर चढ़ कर दूंगा।

और कराहना बन्द कर, और सराहना शुरू कर और कन्धे स्थिर कर और

मेरा उपदेश सुन :

प्रतिमाएँ मत तोड़ उससे मुझे चोट लगती है।

ग़ज़नी मूर्ख था कि उसने प्रतिमाएँ तोड़ीं और रक्तपात किया। उसको क्या मालूम था कि प्रतिमाएँ बिकाऊ होती हैं। उन्हें ख़रीद और मनमाना उपयोग कर।

और ख़रीदने के दाम न हों तो राम का नाम ले, जड़ प्रतिमाएँ जल पर तैरने लगेंगी और सेतु बन जायेगा।

और तू रेशमी सेतु बना, मैं नयी खाइयाँ खोदता चलूँगा, क्योंकि मैं खाइयाँ नहीं खोदूँगा तो तू सेतु किस पर बनायेगा।

और तू सेतु नहीं बनायेगा तो मैं सुविधापूर्वक किनारे कैसे बदलूँगा और तू सेतु नहीं बनायेगा तो मैं पार कैसे जाऊँगा।

और क्या तू नहीं जानता कि आध्यात्मिकता का अर्थ है पार जाना और कविता ही वह पासपोर्ट है जिससे कवि पार जाता है।

और जब कवि की कविता खल्लास हो गयी और पासपोर्ट खो गया तब आत्मा ने खड़े होकर आवाज़ लगायी—"गरजता सागर बारम्बार, कौन पहुँचा देगा उस पार!"

और इसके आगे तू क्यों जानना चाहता है कि कौन आया और किसने उसे पार पहुँचाया? बहुत जानने की इच्छा मत कर।

प्रखर ज्ञान अनैतिक होता है और इसीलिए मैं कहता हूँ कि पालतू ज्ञान रख ले और फ़ालतू ज्ञान फेंक दे और हलका होकर लौट जा शैशव में क्योंकि धन्य है वह शिशु जो फुसलाया जा सकता है।

और मेरे बिगड़े हुए शिशु, देख कि मैंने मीठे शब्दों के चाकलेट फेंक दिये हैं ताकि तू सत्य की निरर्थक खोज त्याग दे और उन्हें बीन-बीन कर खा और

तोतली वाणी में शुक्रिया अदा कर।

और तू चित्रों का प्रेमी है और मैं चित्रों की पूजा करता हूं पर जान रख कि कोरे चित्र आतिशबाजी के खेल हैं।

और बड़ा खतरनाक होता है आतिशबाजी का खेल क्योंकि उससे भूसे के राष्ट्रीय गोदाम में आग लग सकती है।

और अगर भसा नष्ट हो गया तो मुर्दा शेरों की खाल किस पर मढ़ी जायगी और उनके दिमाग़ों में क्या भरा जायेगा?

और तू नयी पीढ़ी का है, तो भरत की तरह शौक़ से शेरों के मुंह फाड़ और उनके दाँत गिन पर उनकी खाल उधेड़ कर यह क्यों दिखाता फिरता है कि शेर भूसे के हैं।

जान रख कि भरत दो प्रकार के होते हैं। भरत और जड़ भरत।

और जड़ भरत शंका नहीं करते, संशय नहीं करते, अच्छे बच्चों की तरह जो भी कहा जाय मान लेते हैं।

और देख कि मैंने जड़ भरत से कहा कि दिल्ली दरबार के सामने व्याल ने फन ताना और किशन कन्हैया ने उस पर बाँसुरी बजाई और बड़ा जशन रहा, और जड़ भरत ने शंका नहीं की और मेरे तईं विश्वास लाया।

और देख कि जब मैंने भरत से यही कहा तो आदर से कुछ नहीं बोला पर मुंह फेरकर मुसकराते हुए अपनी राह चला गया।

और जड़ भरत विश्वास करने हारा था, सो देवताओं ने नरसिंगा बजाया और एक पुरानी हूर ने उसके तईं अपनी बाँह उघाड़ी, और पत्थर की सन्ती उसे गरम रोटी और गाढ़ा शहद मिला जिसे खाते हुए वह चैन से भेड़ चराने लगा।

और भरत शंका करने हारा और बलवा करने हारा और हुल्लड़ मचाने हारा था सो उसे कोप, जल जलाहट औ रिस वाली घुड़कियों के साथ आग के बीच

डाला गया और उस पर दुष्ट जन्तु भेजे गये।

पर उसके अन्दर एक निर्लज्ज आत्मा था सो वह आराम से बैठ कर आग तापने लगा और खिचड़ी पकाने लगा और वह दुष्ट जन्तुओं से ठठ्ठा करने लगा।

यह दृष्टान्त तू सुन और गुन।

और मैं शैली बदल-बदल कर और मुखौटा बदल-बदल कर कहाँ तक उपदेश दूँ और तू अब भी पूछता है कि कविता क्या है?

कविता तेरा सर है
और मेरा हृदय।

और अपने सर को मेरे हृदय पर रख और खाली बर्तन की टनटनाहट सुन।

कविता इन्द्र धनुष है।

और राजा इन्द्र के दरबार में खपच्ची का धनुष तान और कविता कर।

डरता क्यों है?

और कविता के पवित्र देव मंदिर में तू ज्ञान का कुफ़ मत बक!

क्या तू भूल गया कि ज्ञान मनुष्य को बूढ़ा बनाता है। और 'सब तें भले किशोर जिन्हें न व्यापे जगत गति।'

और राजा ययाति ने अपने पु त्रों को बुलाकर कहा:
मैंने देवयानी से विवाह किया और शर्मिष्ठा का भोग किया और भोग ने मुझे बूढ़ा बना दिया है, पर मेरी लालसा अभी तृप्त नहीं है और मैं फिर से किशोर बनूँगा।

और ओ देवयानी के पुत्रो और ओ शर्मिष्ठा के पुत्रो मैं तुम दोनों का

पिता हूँ और तुम्हारे ही कन्धों पर चढ़ कर कैशोर्य के हरे-भरे द्वीप में जाऊँगा युग-युग से ऐसा ही होता आया है और युग-युग तक ऐसा ही होता जायेगा ।

इस परंपरा को मत तोड़,

कहीं मैं बूढ़ा और अतृप्त रह गया तो ?

और यह सुनते ही उनके सब पुत्र तो भाग निकले पर एक फँस गया और उसे अपना सारा तेज और तारुण्य पिता के नाम संकल्प कर देना पड़ा और देख कि पुत्र असमय वृद्ध हो गया और पिता असमय किशोर ।

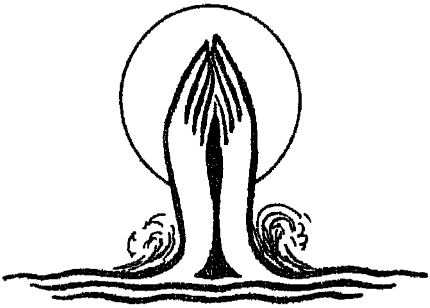
अब राजा ययाति के राज्य में श्रद्धा और साधना का चमत्कार देख कि पुत्र के हाथ में कमंडल है और पिता के हाथ में फ़िल्म-एक्ट्रेस की तस्वीर, और पिता बिहारी-सतसई पढ़ता है और पुत्र साधु महामंडल की रिपोर्ट ।

पर इस दृष्टान्त से यह न सोच कि मैं ययाति हूँ और तू ययाति-पुत्र ।

मैं तो खुद तुझसे कहता हूँ कि जहाँ तक हो प्रौढ़ता से बच, और किशोर बन, और गुलगुले खा, और बुलबुलें लड़ा, और गोदी चढ़, और बालबोधिनी पढ़ :

सारी अक्ल घर रख आ
कविता की कमर खा

और देख बेटा झगड़ा टंटा नहीं करते
जा दादी की गोद में बैठ, लोरियाँ सुन, जमुहाइयाँ ले और पहेलियाँ बूझ ।
कविता तेरी दादी के नयनों का नीर है, उसकी आलमारी का पनीर है, उसे खा और बहा—
मेरा मगज क्यों खाता है, मेरी जान बख्श, आखिर मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है ??????



श्रद्धांजलि

मैं चाँद के कलंक को प्रणाम करता हूं

—भारतेन्दु जयन्ती के अवसर पर

मैं प्रकाश का, ज्योति का, अग्नि का उपासक हूँ पर श्रद्धांजलियों की इस पावन घड़ी में मैं पहले चाँद के कलंक को प्रणाम करता हूँ।

१९ वीं शती के उत्तरार्द्ध की जड़ता, मूर्च्छना, अन्धियारे और अज्ञान को चीरकर भारतेन्दु का महान व्यक्तित्व शारदी पूनों के चाँद की तरह चमक उठा था। लेकिन जहाँ लोगों ने उन्हें अपने अभिनन्दनों से अभिषिक्त किया वहीं लोगों ने दबी जबान यह भी कहा कि—"उनमें कलंक भी है?' वे विलासी हैं अपव्ययी हैं, समाज की रूढ़िबद्ध नैतिकता के विरोधी हैं। कहा जाता है कि लाहौर के जल्ला वंश के प्रख्यात पंडित रघुनाथ ने एक बार इनसे बहुत नाराज होकर कहा था—"जैसे आप अपने सुयश से जाहिर हों वैसे ही भोग-विलास के कारण कलंकी भी हो इसलिये आज से मैं आपको भारतेन्दु पुकारा करूँगा" उस दिन से आज तक इन के जीवनीकारों और आलोचकों ने जहाँ इनके जीवन और कृतित्व के सभी पहलुओं की प्रशंसा की है इनके जीवन के भोग-विलास के प्रति उन सभी का एक दबी जबान से मतभेद रहा है।

लेकिन मैं साहसपूर्वक स्पष्ट ढंग से कहना चाहता हूँ कि उनके जीवन के इस पहलू को अभी तक बहुत गलत ढंग से चिंतन किया गया है। उनका भोग-

विलास एक पतनोन्मुख धनपति का भोग-विलास नहीं था, वह समाज की तत्कालीन नैतिक व्यवस्था और परिवार-व्यवस्था के विरुद्ध एक तीखा विद्रोह था। उनके जीवन में आने वाली स्त्रियों के प्रति उनके मन में केवल फूल सूंघ कर फेंक देने वाली सामन्तवादी मनोवृत्ति न थी। उसके पीछे एक सच्ची मानवीय सहानुभूति, पारस्परिक सौहार्द और एक दूसरे के मन की पीड़ा की अनुभूति थी। रूसी साहित्य में एक शब्द व्यवहृत होता है—"डास्टावस्कियन लव" (डास्टावस्की की प्रणाली का प्रेम)। इसके अर्थ होते हैं नारी और पुरुष का वह पारस्परिक आकर्षण जिसका मुख्य आधार यह होता है कि स्त्री और पुरुष दोनों ही दुःखी, आहत, अभावग्रस्त समाज के द्वारा उपेक्षित हैं और उनका सम्बन्ध दया और सहानुभूति से प्रारंभ हो और प्रणय तथा शारीरिक सम्बन्ध केवल गौणरूप से, आश्वासन रूप से। भारतेन्दु के जीवन की दोनों कहानियाँ इसी भावना को पूर्णतया प्रतिफलित करती है।

वह ढहते हुए सामन्तवाद का युग था और उसमें विवाह और परिवार का स्वरूप बहुत विकृत और सीमाबद्ध हो चुका था। वह पूर्णतया सम्पत्ति पर आधारित संस्था थी और कोमल मानवीय अनुभूतियों तथा प्रतिभा की दिशाओं के विकास में पूर्णतया बाधक था। विवाह तय करने में केवल यही ध्यान रहता था कि अपने से भी ज्यादा मान और मर्यादा वाले परिवार की लड़की आवे। ऐसी परिस्थति में पत्नी केवल सम्पत्ति के उत्तराधिकारी को उत्पन्न करने वाली रह जाती है। उसका अपने पति के सामाजिक जीवन में क़तई कोई भाग नहीं रहता।

भारतेन्दु की पारिवारिक स्थिति भी ऐसी ही थी। उनके कुटुम्ब वालों को उनकी उदारता से बेहद असन्तोष था। उनको धन ज़्यादा प्यारा था। इसलिये उठते बैठते हर क्षण वे भारतेन्दु के विरुद्ध अपनी मौन असहमति और विरोध करते रहते थे। ऐसी हालत म भारतेन्दु के मन में बहुत गहरा अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता था। एक गहरा विषाद उनके मन पर सदा छाया रहता था। अपने तमाम विशाल साहित्यिक अभियान, सामाजिक आन्दोलनों और दरबारों महफ़िलों, उत्सवों और जल्सों के बावजूद उनका मन बेहद अकेला था, उदास था। उनका मन घर से उचट चुका था। लेकिन फिर भी उन्होंने अपनी पत्नी के लिये सदा वह सब किया जिसकी वह अधिकारिणी थी।

डा० ईश्वरचन्द्र चौधरी इनके परिवार के चिकित्सक थे। उन्होंने एक बार

भारतेन्दु से कहा था कि उनकी पत्नी को भारतेन्दु की उदासी से बहुत मानसिक चिन्ता रहती है। भारतेन्दु ने उसका लम्बा चौडा उत्तर बंगला मे लिख भेजा था, जिसमे उन्होंने बहुत दु.ख भरे शब्दो में कहा था कि वे अपनी पत्नी को कभी किसी प्रकार का भी कष्ट नही देते हैं पर वे घर पर अधिक नहीं रह सकते। घर के वातावरण मे घुटने लगते है।

उनका हृदय प्यास से आहत भटका फिरता था। वे उस व्यवस्था को स्वीकार कर पाने में असमर्थ थे जो उन पर रूढिग्रस्त समाज द्वारा थोप दी गई थी।

ऐसी हालत मे इनकी उदास शाम अक्सर माधवी के साथ बीता करती थी। माधवी ऋण लेने देने के लिये इनकी कोठी मे आती जाती थी। वह भी तत्कालीन विकृत समाज-व्यवस्था की एक शिकार थी और स्वभावतया भारतेन्दु के मन मे उसके लिये एक अजब सी सहानुभूति हो गई थी। उनको उसके हृदय मे भी वही सूनापन और उदासी मिलती थी। माधवी गदे पानी मे बहते हुए फूल की तरह थी। जिसे भारतेन्दु ने अपनी अजलि मे सहेज कर उठा लिया। उसके लिये एक अलग मकान खरीद लिया गया। उत्कृष्ट कला-वस्तुओ से वह मकान सजा दिया गया और शाम की कला-गोष्ठियो मे अब माधवी ही अधिकतर मेजबान हुआ करती थी।

लेकिन इसके बावजूद भारतेन्दु का मन माधवी के रूप मे लिप्त नही रहा। उनके मन मे एक कोई और तीखी आध्यात्मिक प्यास थी, जिससे वे बार-बार बेचैन हो उठते थे :

एक शाम को रामकटोरा बाग में माधवी, भारतेन्दु और एक और सज्जन शाम को हवाखोरी के लिये गये थे। शाम का वक्त, हवाओ में हल्की सी खुन्की और फूलो की रविशो पर पेड़ों की लम्बी काँपती हुई छायाएँ। भारतेन्दु का मन डूबते हुए सूरज की तरह उदास था। वे अनमने बैठे हुए माधवी की चम्पकवर्णी आँखो पर पड़ती हुई शाम की गुलाबी आभा मे खोये हुये थे। सहसा वे उठे और तेज़ी से कुंजो की ओर चले गये।

बाग़ मे अँधेरा हो गया। और जब पास की कोठी के मुडेरे से लगकर पुखराज के कबूतर जैसा पीला चाँद झाँकने लगा, तो माधवी चिन्तित हुई। जब

उनकी खोज आरंभ हुई तो देखा गया कि वे एक डाल से टिके हुए सूनी दृष्टि से एकटक चन्द्रमा की ओर देख रहे हैं और उनकी पलकें रह-रहकर डबडबा आती हैं।

यह एक भोग-विलासी की मन:स्थिति नहीं है। यह रूप के उपासक और शरीर के प्यासे की मन:स्थिति नहीं है। यह एक ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति है जो न जाने किस विराट सौन्दर्य को अपने प्राणों में समेट लेना चाहता है और उसकी आकुल आत्मा माधवी के स्नेह की छाया में केवल क्षण भर को विश्राम पा लेती है। यह दो ऐसी आत्माओं का स्नेह-समझौता था, जो वर्तमान व्यवस्था से असन्तुष्ट थीं, जिनके मन में एक गहरी पीड़ा बस गई थी।

इसी तरह इनके जीवन के व्यस्त और एकाकी क्षण बीतते गये। वर्षों बाद इनके जीवन में फिर एक व्यक्तित्व ने प्रवेश किया। वह थी एक सुशिक्षित बंगाली लेखिका जिसका नाम मल्लिका था। वह काशी में आकर बस गई थी। शैशव में ही उसके पति का देहांत हो गया था। वह अनाथ थी, निराश्रिता थी, परदेशिनी थी। मल्लिका का फूलों जैसा सौन्दर्य और साथ एक सुसंस्कृत बौद्धिक स्तर पर विकसित हुआ मन! वह आकर इन्हीं के मुहल्ले में रहने लगी।

▲

इनसे अभी उसका परिचय नहीं हुआ था पर कला, संस्कृति, प्रतिभा और प्रकाश का प्यासा उसका तरुण मन धीरे-धीरे अपने आप उस अनोखे व्यक्तित्व की उपासना करने लगा जो सामने की विशाल कोठी में रहता था, जिसके यहाँ देश-विदेश के विद्वान राज्याधिकारी सेठ, राजेमहाराजे, कलाकार और संगीतज्ञ आते रहते थे। अंगराग और बेले के फूलों में डूबा रहने पर भी जलती हुई आग की तरह तीखा और विद्रोही था। जो अतुल धन-सम्पत्ति, हीरा और माणिक को कंकड़-पत्थर से भी गलीज़ समझता था, जो अभी बहुत तरुण था पर जिसका नाम सुदूर इंगलैण्ड और रूस तक के साहित्यिक क्षेत्रों में फैल चुका था। मल्लिका मन ही मन इस महान व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण कर चुकी थी। एक ऐसा सरल और निष्पाप आत्म-समर्पण जिसका रहस्य सिर्फ़ नारी का हृदय ही जानता है।

मल्लिका का घर उनकी कोठी से मिला हुआ था और एक दिन मल्लिका ने एक अजब सा दृश्य देखा। वह महान व्यक्तित्व जिसकी भौंह के एक इशार

पर महान अंग्रेज सरकार थर्रा उठती है जो सोने-चाँदी के ढेरों को कुचल कर चलता है, जिसकी कलम उस समय के राष्ट्रीय पुनर्जागरण पर छायी हुई थी, वही महान व्यक्तित्व अपनी खिड़की पर बिलकुल उदास बैठा हुआ न जाने क्या सोच रहा है। मल्लिका ने दूर से ही उन्हें मन ही मन प्रणाम किया और चुपचाप एक टक उन्हें देखने लगी। उसे लगा वह दिशा और काल की सीमाओं से मुक्त न जाने किस रहस्य भूमि पर खड़ी है और उसका मन हवाओं में बादलों के संग उड़ा जा रहा है। उसने खिड़की बन्द कर दी अपने बिस्तर पर पड़ रही। पता नहीं क्यों उस दिन वह बेहद रोई। बेहद रोई।

फिर उसके होठों पर हँसी नहीं लौटी! वह चाँद को पाने का प्रयास कर रही थी और उसके पंख कमजोर थे।

लेकिन न जाने कौन रहस्यमय देवता इन आकर्षणों को समझता-बूझता रहता है, और न जाने उसका कैसा इंगित होता है कि चाँद धरती पर उतर आता है, दो पंखों की छाँह में खो जाता है।

मल्लिका का परिचय भारतेन्दु से हो गया! प्रारम्भ में दोनों की मैत्री का आधार बौद्धिक था। मल्लिका ने हिन्दी सीखनी प्रारम्भ की। दोनों घंटों बैठ कर बंगला और हिन्दी साहित्य पर बातें करते थे। वह उनकी साहित्य-सहचरी थी। पर धीरे-धीरे भारतेन्दु के उदास सर्वथा एकाकी और पीड़ा से टूटे हुए हृदय का परिचय जिस दिन मल्लिका को मिला उसी दिन उसके मन की मातृत्व भरी नारी सजग हो उठी। उसने अपना सारा स्नेह, सारी कोमलता सारी ममता इस महान व्यक्ति के उदास क्षणों को समर्पित कर दी—वह महान व्यक्ति जो लाखों की भीड़ में, जयकार में भी अकेला था, उदास था, थका हुआ था।

मल्लिका ने तीन बंगला उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया था। उनमें से एक उसने भारतेन्दु को समर्पित किया था। उसके समर्पण में भाषा अटपटी है, पर आँसू और ममता से भीगी हुई है—"हमारे आर्य सभ्य-शिष्ट समाज की रीति अनुसार मेरे परिचय की सर्व साधारण में योग्यता नहीं और न क्षुद्र ग्रंथ का अनुवाद ही कोई ऐसा स्तुत्य कृत्य है, जिसके धन्यवाद संचय करने को मुझे प्रकट होना आवश्यक होगा। 'शुकांगना यत्र गिरो गिरन्ति अवेहितम्मण्डन मिश्र गेहम।' जिरा पूज्य प्राणप्रिय देवतुल्य स्वामी की आज्ञा से

सका अनुवाद अपनी चलन भाषा में किया है उन्हीं के कोमल कर कमलों
: यह समर्पित भी है। और उन्हीं की प्रसन्नता मात्र इसका फल है।"
'ल्लिका ने बंगला में कुछ प्रेम-गीत भी लिखे थे, जिनका संग्रह 'प्रेम तरंग'
; रूप में छपा था। उसका एक गीत था"—

"राखिये हे प्रानेश प्रेम करिया जतन।
तोमाय करेछि समर्पण !"

इस सुकुमार समर्पण के बदले में भारतेन्दु ने भी मल्लिका को जो दिया
ह अमूल्य था। उन्होंने मल्लिका को भोग की, कला-विलास वस्तु नहीं माना।
ह सच्चे अर्थों मे उनकी सहचरी थी उन्होंने प्रयास किया कि मल्लिका
र्थिक रूप से स्वाधीन हो जाय, किसी के आश्रित न रहे। उसके नारीत्व का
म्मान पूर्णतया सुरक्षित रहे। उन्होंने 'मल्लिका चन्द्र एण्ड कम्पनी' नामक एक
स्तकों की फ़र्म खुलवा कर उसका प्रबन्ध मल्लिका के हाथ में सौंप दिया।

नारी और पुरुष के सम्बन्धों का यह कितना आधुनिक प्रगतिपूर्ण रूप है
ैर जब हम सोचते हैं कि भारतेन्दु के मन में यह योजना २० वीं शती के ही
हले आ गई थी तो हमें उनके क्रान्ति-दर्शी जीवन-दर्शन पर आश्चर्य होता है।
ल्लिका उनकी समानाधिकारी थी, बौद्धिक, सामाजिक, दाम्पत्य सहचरी थी।
ह नारी और पुरुष के सम्बन्धों का वह रूप है जिसको बड़े से बड़ा समाजवादी
चारक स्वीकार करता है।

माधवी भारतेन्दु की मृत्यु के बाद घर बार छोड़ कर पता नहीं कहाँ चली
ई। चौक की सिख संगत के सामने मल्लिका चन्द्र कम्पनी का साईनबोर्ड भी
क दिन वहाँ से हट गया। भारतेन्दु-जयन्ती के इन क्षणों में माधवी और
ल्लिका को याद करने वाला कोई नहीं है। लोग उन दोनों व्यक्तित्वों को
ल चुके हैं जिनके निश्छल स्नेह ने भारतेन्दु की कला में रस दिया था।

मैं उस निश्छल स्नेह को प्रणाम करता हूँ, नारी की उस चरम पावन
कलुष मूर्ति को प्रणाम करता हूँ! चाँद को मैं बाद में श्रद्धांजलि दूंगा, पहले मैं
ांद के कलंक को प्रणाम करता हूँ!

आखि लंगा

अपनी ही मौत पर

आखिर जल्दबाजी की भी एक हद होती है। इतना समझाया कि देखो ई भारती, यह जल्दबाजी की आदत एक दिन तुम्हें ले डूबेगी, लेकिन साहब हर काम में जल्दबाजी; और अन्त में वही हुआ जो होना था। मरने में भी आपसे थोड़ा धीरज नहीं धरा गया। चट से जहन्नुम में कूद गये। और मैं तो चूंकि उनकी नस-नस से वाकिफ़ रहा हूँ, मुझे पूरा यकीन है कि यमदूत वग़ैरह तो भला उन्हें लेने क्या आये होंगे, कहीं आमने-सामने की गली से मौत इठलाती बलखाती गुज़र रही होगी, आपने अपने दरवाजे से ही पुकारा होगा—"अरे रुकना भाई, रुकना, जरा! चल रहे हैं हम भी।" और जैसे तैसे पैर में चप्पल डाल कर पीछे पीछे दौड़ गये होंगे। बहरहाल, उनकी आकस्मिक मौत उन्हीं के अनुरूप थी, इसमें तो कोई सन्देह नहीं।

हाँ, एक बात दुख की जरूर है। उन्होंने अपनी मौत की बड़ी-बड़ी रोमाण्टिक कल्पनायें कर रक्खी थीं, यूं मरेंगे, और यहाँ मरेंगे और ऐसे मरेंगे और यह होगा वग़ैरह, लेकिन उनकी मौत उन्हीं के शहर में, उन्हीं के मुहल्ले में, उन्हीं के घर में, अपने ही कमरे में, अपने ही बिस्तरे पर हुई। रात को सोये तो सुबह उठे नहीं। डाक्टरों का ख्याल है कि उन्हें अन बैलेन्सी-फ़ैनेटिको-काइलिट हो गई थी ।

अत्याधुनिक बीमारी है । सबसे पहले अमेरिका के एक बहुत लोकप्रिय उपन्यासकार और बलगेरिया की एक कम्युनिस्ट बुढिया के तोते को हुई थी और तब से सभी अच्छे लेखक इस बीमारी से मरना पसन्द करते हैं, और आप जानते हैं इन सब मामलों में भारती जी तो आधुनिक से आधुनिक फ़ैशन अपनाने के लिये उत्सुक रहते थे ।

भारती की मौत जितनी आधुनिक थी, ज़िन्दगी उतनी ही परम्परा-बद्ध । बड़े गतानुगतिक ढंग से प्रयाग में पैदा हुआ और जीवन पर्यन्त उसी प्रोलेटेरियट नगर में रहा । छोटा-मोटा परिवार अपना, और वैसे अपने सभी मित्रों के परिवारों में घुली मिली ई घरेलू टाइप की ज़िन्दगी ।

कहते हैं कि आपके प्रणय-जीवन के रजिस्टर में भी कोई ठीक समय पर हाज़िर होने नहीं आया और नतीजा यह हुआ कि आपने लोगों की देर में आने की आदत से झल्ला कर वह मुहकमा ही तोड़ दिया । वैसे उनकी एक बड़ी ही दिलचस्प आदत थी कि प्रणय-जीवन के बारे में अपने हर दोस्त से अलग क़िस्म की बातें करते थे और हर बात दूसरी से कतई भिन्न होती थी । अतः मैं तो कभी भी उनकी किसी भी बात पर यकीन नहीं कर प और न खुद उन्हें ही अपनी इन मनगढ़न्त कहानियों कतई कोई विश्वास था ।

वैसे वे बड़े प्रेमी जीव थे । हरेक पर बिना जान-पहचान के पूरा भरोसा कर लेना और हरेक से धोखा खाना, यह आपका दैनिक कार्यक्रम था । जैसे ख़लीफ़ा हारूं रशीद बिना किसी भूखे को खाना खिलाये खुद भोजन नहीं करते थे वैसे ही आपको भी रोज़ाना एक नया मित्र बनाये बिना चैन नहीं पड़ता था । और जब आप बाद में उसका नतीजा भोगते थे, तो आपकी खीज और झल्लाहट भी देखने लायक होती थी । हाँ दिल के साफ़ थे । प्यार हो या गुस्सा, उसी वक्त आप उगल देंगे । पेट में बात रखना कठिन था ।

और आपकी गुस्सा और नफ़रत भी खूब थी । कैसी नम्रता और प्यार से आप सुई चुभोते थे । लेकिन हाँ, उनकी नफ़रत भी बादल की छांह थी ! अभी है, अभी नहीं । आप नफ़रत भी किन चीजों से करते थे ? उनसे जिनसे आपका कोई वास्ता नहीं । आप उनका रुपया मार दीजिये, उन्हें गाली दे दीजिए, उनके कपड़े उतरवा लीजिये, उन्हें इसका कोई विशेष ग़म नहीं, लेकिन अगर वे दान्ते के उपासक हैं और आप दान्ते को प्रतिक्रियावादी कह दीजिए तो फिर देखिये क्या

आलम रहता है। भारती अमेरिका के खिलाफ़ है, पार्टी के खिलाफ़ है और आप अमेरिका के पक्ष में बोल दें, पार्टी के पक्ष में बोल दें तो भारती तलवार खींच कर शहीद होने या शहीद बनाने के लिए सर पर क़फ़न बांधे तैयार खड़े है। इसी को हमारे बुर्जुग हवा से लड़ना कह गए हैं। न उनसे कोई मतलब न गरज़, लेकिन अगर उनकी खोपड़ी में समा गया कि अमुक बात अनुचित है तो चाहे उस बात से भारती को कोई मतलब गरज़ न हो, लेकिन फिर देखिये उनका चेहरा और उनकी क़लम।

भारती का कहना था कि जहाँ आदमी को न शुद्ध घी मिलता है न दूध, वहाँ शायद आदमी को सबसे ज़्यादा ताकत देने वाली चीज अहंकारहीन गुस्सा, और स्वार्थहीन नफ़रत है और भारती उसका सेवन बिलकुल काडलिवर आयल या मकरध्वज की तरह करते थे।

यूं भारती ग़ल्ती से साहित्य की दुनिया में आ गये थे वरना उन्हें बनाते समय भगवान का कोई इरादा उन्हें साहित्यिक बनाने का नहीं था। न घने रेशम से लहरे बाल, न नज़ाकत, न गुरुदेव सी भव्य दाढ़ी। वैसे भारती साहब इस कोशिश में अक्सर रहे कि देखने-सुनने में साहित्यिक जैसे लगें। बाल बढ़ाने का इरादा किया तो एक दिन हज्जाम ने बीच चौराहे पर खड़े होकर कहा—"अब तो साहब बड़े बड़े बाबुओं का दीवाला बोल गया। पहले घर में राशन लावें कि लाऊ से बाल बनवावें।" बस यह बात भारती को लग गई और उसने बाल कतरवा डाले। बाद में उसने टाल्सटाय की तरह दाढ़ी बढ़ाने की सोची पर हिन्दी के कुछ गण्यमान्य विद्वानों को केवल दाढ़ी के ज़ोर पर संस्थाओं का अध्यक्ष होते देखकर वह डर गया और इस भय से कहीं यही उसका भाग्य भी न हो उसने दाढ़ी भी मुड़वा डाली। इस तरह बेचारा बड़ी असाहित्यिक रूपरेखा में मरा।

यूं चेहरे पर भारती काफ़ी उत्फुल्लता रखने की कोशिश करता था, पर अन्दर से कुछ बीमार था। दो बीमारियाँ तो बहुत स्पष्ट थीं—

एक तो उसे पढ़ने के दौरे आते थे। जैसे अन्य मानसिक रोगों में दौरे में आदमी बेकाबू हो जाता है, वैसे ही जब भारती को पढ़ने का दौरा आता था तो आप काबू के बाहर हो जाते थे। फिर यह आलम कि बेचारे डी० एच० लारेन्स, आस्कर वाईल्ड, मैक्सिम गोर्की, स्ट्रिण्डबर्ग अपनी जान छोड़ कर भाग रहे हैं और भारती हैं कि नोटबुक और पेन्सिल पकड़े पीछे-पीछे दौड़ रहे हैं।

दूसरी बीमारी थी उन्हें टहलने की। आप से १५ मिनट भी शान्त नहीं बैठा जाता था। बात करते करते एकाएक उठ खड़े ए। आपको लगेगा कि वे वापस जा रहे हैं। आप सुख की सांस लेंगे कि चलो बला टली, लेकिन दूसरे ही क्षण आप देखेंगे कि वे आपके कमरे को हरा भरा घास का मैदान समझ कर आराम से चहलक़दमी कर रहे हैं।

और भी कितनी ही बीमारियों के जर्म उनमें प्रविष्ट हो चुके थे, पर उन्हें पूर्ण परिपक्व रूप में सामने आने का मौका नहीं मिला।

चूंकि उनकी मृत्यु बड़ी ही संदेहजनक परिस्थितियों में एक अजब बीमारी से हुई; अतः पुलिस ने बिना पोस्टमार्टम के उनका अन्तिम संस्कार करने की इजाजत नहीं दी। उनके पोस्टमार्टम से कुछ विचित्र बातें मालूम हुई। पहली बात तो यह कि उनकी नसों में बहने वाले खून में बहुत सा अंश सोडावाटर का था और इसीलिए वह खून जल्दी ही ठंडा हो जाता था, और एक तीखी गैस उसमें हमेशा बनी रहती थी। जहाँ साधारणतया लोगों के शरीर में हृदयपिंड होता है, वहाँ केवल विचारपिंड था जहाँ मस्तक में मस्तिष्क-द्रव रहता है वहाँ केवल हृदय-पिंड था। यह एक अजब सी परिस्थिति थी और शायद इसीलिए उनके कुछ मित्रों का कहना था कि उनकी भावनायें (प्रेम, घृणा, मैत्री वग़ैरह) बिलकुल दिमागी थीं और उनके विचार भावुक। उनके दिमाग में विचारों की प्रगति और विकास की गहरी रेखाएं पड़ी थीं। वे रेखाएं आपस में बहुत उलझ गई थीं; यद्यपि वे धीरे धीरे एक नया रास्ता बना रही थीं और कहा यह जाता है कि यदि भारती कुछ दिन और जिन्दा रहता तो ये उलझनें सन्तुलित होकर एक ऐसा अनोखा रूप धारण करतीं जिसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती।

उसके पैरों, आँखों और अंगुलियों की नसों में मरने के बाद भी कुछ विद्युत्शक्ति बच रही थी। कुछ नौसिखिये डाक्टरों का कहना है कि यदि उसे जला न दिया जाता तो वह मरने के बाद भी आगे चल सकता था, आगे देख सकता था, आगे लिख सकता था।

उसकी मृत्यु की प्रथम प्रतिक्रियाएं बड़ी ही मनोरंजक थी। जिन पत्रों में वह लिखा करता था, उनके सम्पादकों ने सुख की साँस ली कि अब उसके लेख छापने और पारिश्रमिक देने से फ़ुरसत मिली। जो मित्र उससे किताबें उधार ले गये थे, उन्होंने फ़ौरन उसके शोक-सम्मान में उसका नाम काट कर अपना नाम

लिख लिया। परिमल के संयोजक ने फ़ौरन देखा कि रजिस्टर में उनके नाम कुछ चन्दा तो बाकी नहीं है। उसके बाद उनके मित्रों ने मिलकर बहुत दुख मनाया शोक सभाएं कीं और इस बात का ध्यान रक्खा कि अखबार में विवरण छपने पर कहीं उनका अपना नाम छूट न जाय।

लेकिन उसकी मौत पर लोग रोये बहुत कम। उसके गहरे से गहरे संबंध भी कुछ अधिक भावनात्मक नहीं हो पाते थे। उनके कुछ मित्रों ने उनके शोक में कविताएं लिखने का प्रयास किया, लेकिन वे केवल पैरोडी बन कर रह गई। उसकी एक अत्यन्त घनिष्ट मित्र ने जब उनकी मृत्यु की खबर अखबार में पढ़ी तो हँसते-हँसते उसके पेट में बल पड़ गए और नाच-नाच कर घर भर को अख-बार दिखाते हुए बोली—"देखा! अब भारती साहब ने सेल्फ़-प्रोपेगैण्डा (आत्म प्रचार) का नया तरीका ढूंढ़ निकाला है। अरे मैं तो उसकी नस नस से वाक़िफ़ हूँ।"

लेकिन अन्य सभी लोग उनके मृत्यु-समाचार से स्तब्ध रह गये। उनके कुछ आत्मीयों ने यहाँ वहाँ उनके बारे में संस्मरण भी लिखे, जिनमें से कुछ में से मैं उद्धरण दे रहा हूँ। पहला संस्मरण जो उनके तकिये ने लिखा है वह इस प्रकार है—

"मैंने उनके वे क्षण देखें हैं जो आपने नहीं देखे। आपने उनके उन्मुक्त निर्झर से ठहाके,—लच्छेदार बातें, उत्सुकता के क्षणों में उन्हें जाना है—पर मैंने उनके उन क्षणों में उन्हें जाना है, जब वे बिलकुल निराधार चोट खाये हुए बच्चे की तरह बिलख बिलख कर रोये हैं। मैत्री, प्रेम, प्रतिभा, परिवार, जब कोई भी उन्हें शाँति नहीं दे पाया, तब उन्होंने मेरी गोद ढूंढ़ी थी! अपनी चरम व्यथा, निराशा, अन्धकार और दर्द के क्षणों में उन्होंने मेरा आसरा ढूंढ़ा था। केवल दो ही स्थल हैं जहाँ वे खुल कर रोये हैं, जहाँ रोकर उनका जी हल्का हुआ है, एक मेरी गोद और एक दूसरी···लेकिन जाने दीजिए, उस दूसरी की बात करना मेरी अनधिकार चेष्टा होगी।"

उनके कुछ संस्मरणों में उनकी आलोचना भी की गई थी। एक पत्र में उसकी एक पुरानी अलार्म घड़ी ने लिखा था—"मैं जड़ मशीन हूँ तो क्या, भारती की मौत के पीछे जो ट्रैजेडी है वह मैं पहचानती हूँ। ऐसी जवान मौतें मेरे लिये कोई नई बात नहीं। मेरा आविष्कार हुए सदियाँ गुज़र गईं और हर पीढ़ी

में मुझे एक न एक ऐसा व्यक्ति मिलता रहा है जैसा भारती था। मेरा काम रहा है समय नापना, आदमी की ज़िन्दगी को समय के साँचे में ढालना और भारती जैसे लोगों का काम रहा है समय से लड़ना, समय के साँचे को जान लगाकर तोड़ना-फोड़ना। वे जमाने से बंधना नहीं चाहते। उनकी प्रतिभा जलते हुए किरण-तीर की तरह जमाने को चीर कर आगे बढ़ना चाहती है और यह कश-मकश दोनों में से किसी एक को ले डूबती है। यूँ एक बार जब वह खुश था मैंने उससे पूछा कि आखिर वह वक्त के आगे भाग निकलने का पागलपन क्यों लादे है, तो उसने हंस कर जवाब दिया—"अगर मैं वक्त से ही बंधता, जमाने से ही बंधता, तो घड़ी होता, बैरोमीटर होता, इन्सान क्यों होता ?"

उस पर एक बहुत सुन्दर सा संस्मरण लिखा गया जो छपा नहीं। मुझे सुनाने के बाद ही जला दिया गया। वह संस्मरण उनकी भागवत में लिखा था—उसकी जो पंक्तियाँ मुझे याद रह गई हैं, वे इस प्रकार है—

"भारती मेरा इतना अपना था कि मैं उस पर कभी न लिखती, मगर जब मैंने देखा कि उसके निकट से निकट मित्र ने भी उसका सही आकलन नहीं किया तो आज मुझे क़लम उठाने के लिए मजबूर होना पड़ा। उसके लिए दुख करना बेकार है। वह व्यक्ति नहीं था—वह एक अभिव्यक्ति मात्र था, एक स्वर, एक संगीत जो हवाओं से उठा, दिलों से टकराया और धूल में सो गया। आपने भारती को देखा था, मैंने भारती के पार देखा था। उसकी जिन्दगी, उसके अस्तित्व उसके प्रेम, वासना, व्यथा, संघर्ष और तिलमिलाहट के पार......उसका अपना कुछ नहीं रह गया था। आप समझते हैं उसने अपना कुछ लिखा था ? ग़लत ! कोई उसकी उँगलियाँ पकड़ कर लिखवाता रहता था। जो कुछ भी उसने अपना, केवल अपना लिखा है वह पानी की लकीर की तरह मिट जायगा, इतिहास उसे कुचलता हुआ चला जायगा, लेकिन जो कुछ उसे किसी अदृश्य ने लिखा दिया है वह अमिट रहेगा, उससे टकरा कर इतिहास की गति मुड़ जाया करेगी।......प्रतिक्षण स्नेहियों और मित्रों से घिरे होने पर भी उसकी आत्मा कितनी उदास, कितनी प्यासी थी यह मैं जानती हूँ। वह एक अजब से विराट प्यार का प्यासा था। वह प्यार जो जीवन-दर्शन बन सके, जो विद्रोह की आवाज़ बन सके, जो इतिहासों का पथ-निर्देशक बन सके। उसको वह प्यार मेरे पृष्ठों में मिला था। वह मुझे प्यार करता था या नहीं, यह मुझे नहीं मालूम, पर जिसकी बाँहों में उसे पहली बार यह प्यार मिला था, उसे वह अपने जीवन की भागवत कहा करता था। उसकी बेहद इच्छा थी कि मैं मरते समय उसके पास

रहूँ, लेकिन......मैं उसकी मौत पर दुख नहीं मानती। वह एक भटका हुआ, ऊपर से खिलखिलाता हुआ अन्दर से टूटा हुआ संगीत था और मेरे पृष्ठों में ढूँढ़िये कितने अधूरे संगीत, अधूरी पूजायें, अधूरी ममताएँ, अधूरे विद्रोह और अधूरे समर्पण मेरे पृष्ठों में दबे सो रहे । मेरे पृष्ठों में ढूँढ़िये, भारती मिल जायगा।"

उन पर लिखे गये ये संस्मरण उनके व्यक्तित्व के कई पहलुओं पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं पर मैं पाठकों को यह चेतावनी दे दूँ कि वे न पर तई विश्वास न करें। इनमें उनके आत्मीयों न काफ़ी पक्षपात किया है और अपनी काव्यात्मक शैली का प्रदर्शन करने के उत्साह में अतिशयोक्ति की भी सीमा लांघ गये है। स्वयं मुझे उनकी चीजें दिलचस्प लगती थीं। लेकिन इतनी जल्दी उन पर कोई भी निर्णय दे देने के पक्ष में मैं बिल्कुल नहीं हूँ।

भारती के विकास की काफ़ी संभावनाय थीं, पर उनके मुरझा जाने की और भी अधिक। वे इतनी छोटी अवस्था में चल बसे, बतौर एक मित्र के मुझ इसका काफ़ी दुख है लकिन यह देखकर कि कितने ही कलाकार जीते जी मर जात हैं, उनकी कला, उनकी प्रतिभा, उनका विद्रोह, उनकी अन्तर्दृष्टि मर जाती है फिर भी वे खाते है, लिखते हैं, जीते हैं—इसे देखते हुए भारती जी बहुत वाजिब समय से चल बसे इसका मुझे संतोष है। हाँ, मैं यह अवश्य प्रार्थना करता हूँ कि भगवान उनकी आत्मा को कभी शाँति न दे वरना उनकी प्रतिभा मर जायगी।

पुनश्च—यदि उन पर किसी का कुछ रुपया वगैरह बाकी हो तो उसका देनदार मैं हूँ, पर साथ ही जिन सज्जनों या पत्रिकाओं पर उनका रुपया बाकी हो वे भी कृपया शीघ्रतम भेजने की कृपा करें। हाँ, उनकी पुस्तकें भी मित्रगण लौटा दें, तो बड़ी कृपा होगी!

छपते-छपते

दुख के साथ यह कहना पड़ता है कि अभी अभी प्राप्त समाचार के अनुसार 'भारती जी स्वस्थ और सकुशल हैं। हमें दुख है कि ऊपर का पूरा लेख लिखने का श्रम और समय व्यर्थ ही नष्ट हुआ।

(लेखन-काल—सन १९५०)